विवेक-ज्योति
वर्ष ४१ अंक १ जनवरी २००३
मूल्य रु. ६.००
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक १

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ६३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जनजीवन की प्रत्येक विधा में एक नवजीवन का सचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - ऐसी कालजयी विभूतियों का जीवन एव कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होता है और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा का केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करता है। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि इन दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई न केवल पूरे भारत, अपितु सम्पूर्ण जगत् के पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू सस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्मशताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले ४ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर इस 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के सक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बँटाएँगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ५०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २२५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १०००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी हेतु 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

 ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' रायपुर [illegible] से भेजें

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ३

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द
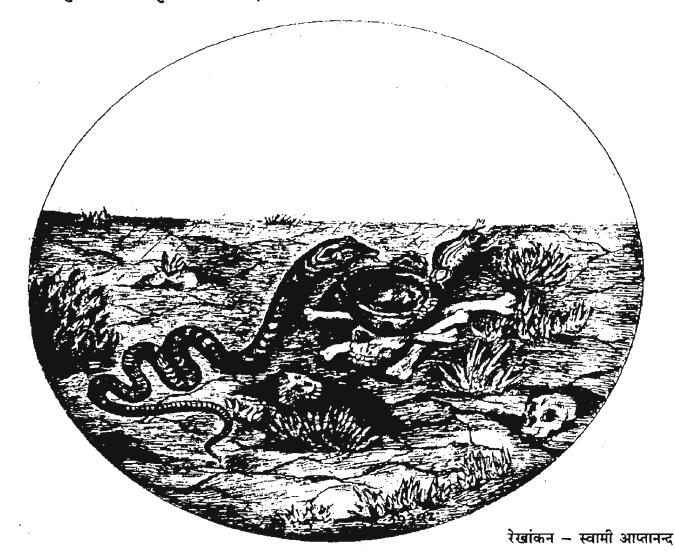
एक बार किसी का लड़का इतना बीमार पड़ा कि उसके बचने की कोई आशा नहीं रही। जब उसके प्राण अब-तब हो रहे थे, तभी किसी ने बताया, ''एक उपाय है। यदि स्वाति नक्षत्र की वर्षा का जल किसी मुर्दे की खोपड़ी में गिरे और यदि उस जल को पीने कोई मेढक आए और कोई विषैला साँप उस मेढ़क को पकड़ने जाए पर मेढक उछलकर भाग जाए और साँप का विष उस खोपड़ी के जल में गिर पड़े, तो रोगी को थोड़ा-सा वह विषैला जल पिलाने पर वह बच सकता है।'' उस आदमी ने पंचांग देखा। उसी दिन स्वाति नक्षत्र लगा था। तब वह भगवान से प्रार्थना करते हुए दवा की खोज में निकला। उसी समय बारिश भी शुरू हो गई। तब वह व्याकुल हो कहने लगा, ''हे प्रभो, अब कहीं से मुर्दे की खोपड़ी भी मिला दो।'' खोजते हुए उसे एक स्थान पर मुर्दे की खोपड़ी पड़ी मिली। उसमें स्वाति का पानी भी पड़ा हुआ था। तब वह प्रार्थना करते हुए कहने लगा, ''भगवन्, दया करो, अब बाकी चीजें भी जुटा दो।'' उसकी व्याकुलता जैसे जैसे प्रबल होती गई वैसे वैसे सब सामान भी जुटने लगे। देखते-ही-देखते एक मेढ़क और उसका पीछा करते हुए एक साँप उस ओर आ पड़ा। खोपड़ी के पास आते ही साँप उसे काटने गया पर मेढ़क उछलकर पार हो गया और साँप का विष उस खोपड़ी के जल में गिर गया। तब वह आदमी मारे खुशी के, ईश्वर की जयजयकार करते हुए वह जल ले आया। ईश्वर पर विश्वास रखकर व्याकुलता से प्रार्थना करने पर वे अवश्य सुनते हैं। उनकी कृपा से सब सम्भव हो जाता है।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।
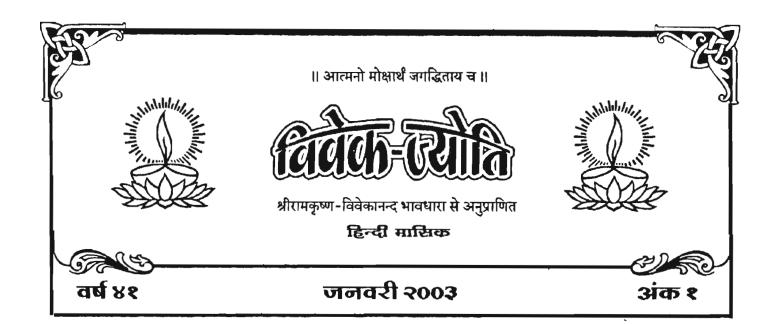
नीति-शतकम्

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।७५।।

अन्वयः – ये स्वार्थं परित्यज्य परार्थघटकाः सत्पुरुषाः एके । ये तु स्वार्थ-अविरोधेन परार्थम् उद्यमभृतः, सामान्याः। ये स्वार्थाय परहितं निघ्नन्ति ते अमी मानुषराक्षसाः। ये तु परहितं निरर्थकं घ्नन्ति न जानीमहे ते के ।

भावार्थ – संसार में कुछ ऐसे सत्पुरुष हुआ करते हैं, जो दूसरों के हित के लिए अपना स्वार्थ त्याग देते हैं। दूसरे सामान्य कोटि के लोग केवल तभी तक दूसरों की सहायता करते रहते हैं, जब तक कि वह उनके अपने स्वार्थ से नहीं टकराता। तीसरे नर-राक्षस श्रेणी के लोग अपने स्वार्थ-साधन हेतु दूसरों के हित का नाश करते रहते हैं। और बिना किसी स्वार्थ के ही दूसरों के हित का नाश करनेवाले चौथे दर्जे के लोगों को हम क्या नाम दें, यह हमारी समझ में नहीं आता।

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ।।७६।।

अन्वयः – पुरा क्षीरेण आत्मगतोदकाय अखिलाः गुणाः दत्ताः हि तेन पयसा क्षीरोत्तापम् अवेक्ष्य स्वात्मा कृशानौ हुतः, तत् तु मित्रापदं दृष्ट्वा पावकं गन्तुम् उन्मनः अभवत्, तेन जलेन युक्तं शाम्यति । सतां मैत्री पुनः तु ईदृशी ।

भावार्थ – दूध ने पहले तो अपने से मिले हुए जल को अपने सारे गुण दे दिए, फिर दूध को उबलता देखकर जल ने स्वयं को जला दिया, तब दूध ने अपने मित्र जल की विपत्ति देखकर स्वयं को आग में डाल दिया और फिर ऊपर से जल मिला देने पर वह शान्त हो गया, सज्जनों की मित्रता ऐसी ही हुआ करती है।

– भर्तृहरि

मातृ-वन्दना

– १ –

(भैरवी-कहरवा)

(तर्ज – हे जगत्राता विश्वविधाता)

आया द्वार तुम्हारे जननी, भिक्षा पाने दरशन की ।
झलक दिखा तो पूरी हो, आशा मेरे जीवन की ।।

बहुत दूर से आया हूँ मैं, अबकी बार न ठुकराना,
यदि हो सके जननि तो, मेरे अन्त:पुर में रह जाना;
साध नहीं अब मेरे चित में,
इस ज़ग के नश्वर धन की ।।

कैसे ग्रहण करूँगा भिक्षा, पात्र नहीं है मेरे पास,
बिन्दु मात्र ही मिल जाये तो, मिट जायेगी मेरी प्यास;
चिर कृतज्ञ हो जाऊँगा मैं,
ताप दूर होगी मन की ।।

– २ –

(भैरवी-कहरवा)

जननी शरण तुम्हारी आया ।
चित्त भ्रमर मम छोड़ विषय-भ्रम,
पद जलजात लुभाया ।।

देख सभी में तेरी सूरत, सेवारत रहता हूँ अविरत;
शुद्ध हुआ अब तो मेरा चित,
कण कण तुझको पाया ।।

तेरे आलय जग में रहता, तेरी बातें सुनता कहता;
विचरण है तेरी प्रदक्षिणा,
निद्रा ध्यान लगाया ।।

खाद्य पेय तेरा प्रसाद है,
दूर हुआ सारा विषाद है;
दृष्टि बदलकर इसी सृष्टि में,
जीवन सफल बनाया ।।

– विदेह

सार्वभौमिक धर्म

स्वामी विवेकानन्द

धर्म का अर्थ है, उस ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति, जो सभी मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है।

हे ईश्वर, जैसे विभिन्न पर्वतों से निकलने वाली बहुत-सी नदियाँ, टेढ़े या सीधे मार्गों से बहती हुई अन्त में समुद्र में ही जा मिलती हैं, वैसे ही विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकट होनेवाले ये सभी विभिन्न धर्म तथा सम्प्रदाय, सीधे या टेढ़े मार्गों से चलते हुए भी अन्ततः तुम्हीं को प्राप्त होते हैं।

किसी एक धर्म का सत्य होना अन्य सभी धर्मों के सत्य होने के ऊपर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ यदि मेरी छह अंगुलियाँ हैं और किसी दूसरे व्यक्ति की नहीं हैं, तो यह कहा जा सकता है कि मुझे छह अंगुलियाँ होना असामान्य है। यही बात इस तर्क के बारे में भी कही जा सकती है कि कोई एक धर्म सत्य है और अन्य सभी झूठे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि यदि कोई एक धर्म सत्य है तो अन्य सभी धर्म भी सत्य हैं। उनके असारभूत तत्त्वों में भेद हो सकता है, पर तत्त्वतः सभी एक हैं। यदि मेरी पाँच अंगुलियाँ सत्य हैं, तो वे सिद्ध करती हैं कि तुम्हारी पाँच अंगुलियाँ भी सत्य हैं।

बुद्धि के जिन आविष्कारों की सहायता से सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं, क्या धर्म को भी उन्हीं के द्वारा स्वयं को सत्य प्रमाणित करना होगा? बाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन शोध-पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्मविज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकेगा? मेरा विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और यह जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन खोजों के द्वारा नष्ट हो जाय, तो वह सदा से निरर्थक – कोरे अन्धविश्वास का धर्म था और वह जितनी जल्दी चला जाय, उतना ही अच्छा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक श्रेष्ठ घटना होगी। इस जाँच के फलस्वरूप सारा मैल धुल जाएगा और धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आएँगे। वह न केवल कम-से-कम उतना ही वैज्ञानिक होगा, जितना कि भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियाँ हैं, बल्कि और भी अधिक सशक्त हो उठेगा, क्योंकि भौतिकी या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने के अंतःसाक्ष्य नहीं है, जो धर्म के पास है।

धर्म का अध्ययन अब पहले से अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिए। धर्म सम्बन्धी सभी संकीर्ण, सीमित, परस्पर-विरोधी धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों को त्याग देना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहना, एक अन्धविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। ऐसे सारे विचारों से मुक्ति पाना होगा।

प्रश्न उठता है कि क्या धर्म सचमुच कुछ कर सकता है? हाँ, कर सकता है। यह मनुष्य को शाश्वत जीवन प्रदान करता है। आज मनुष्य जिस स्थिति में है, वह धर्म ही की बदौलत है और धर्म ही इस मानव-पशु को एक ईश्वर बना देगा। यह है धर्म की क्षमता। मानव-समाज से धर्म को निकाल दो तो शेष क्या बचेगा? केवल पशुओं से भरा हुआ जंगल। इन्द्रिय-सुखों को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानना मूर्खता है; उसका लक्ष्य तो ज्ञान है।

पशु अपनी इन्द्रियों के द्वारा जितना आनन्द पाता है, उससे अधिक आनन्द मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा अनुभव करता है। साथ ही हम देखते हैं कि मनुष्य अपनी बौद्धिक प्रकृति से भी अधिक आध्यात्मिक प्रकृति से आनन्द प्राप्त करते हैं। इसलिए मनुष्य का परम ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही है। इस ज्ञान के होते ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। संसार की सारी चीजें मिथ्या, छाया मात्र हैं; वे परम ज्ञान और आनन्द की तृतीय या चतुर्थ स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं।

मुख्य बात है ईश्वर-प्राप्ति की आकांक्षा। हमारे सभी स्वार्थों की पूर्ति बाह्य संसार से हो जाती है, अतः हमें ईश्वर के सिवा अन्य सभी चीजों की आकांक्षा होती है। पर जब हमें इस बाह्य संसार के परे की चीजों की जरूरत होती है, तब हम उनकी पूर्ति अन्तःस्थ ईश्वर से करना चाहते हैं। हमारी जरूरतें जब तक इस भौतिक सृष्टि के संकुचित दायरे के भीतर की वस्तुओं तक ही सीमित रहती हैं, तब तक हमें ईश्वर की कोई जरूरत नहीं पड़ती। जब हम यहाँ की हर चीज से ऊब जाते हैं, तभी हमारी दृष्टि अपनी जरूरतों की पूर्ति हेतु इस सृष्टि के परे दौड़ती है। माँग होने पर ही पूर्ति भी होती है। अतः जितनी जल्दी हो सके, इस संसार की बालक्रीड़ा से निपट लो। तभी तुम्हें इस संसार के परे की किसी वस्तु की जरूरत का बोध होगा और तुम धर्म की पहली सीढ़ी पर कदम रख सकोगे।

मेरे गुरुदेव कहते थे – तुम ऐसे लोगों को क्या कहोगे जो आम के बाग में जाकर पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने तथा उनकी संख्या गिनने में लगे रहते हैं, जबकि उनमें से केवल एक ही में आम खाने

की चाह हो। अत: पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और नोट तैयार करना, दूसरों के लिए छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्त्व उनके अपने स्थान में है, पर इस धार्मिक क्षेत्र में नहीं। ऐसी चेष्टा से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन पत्ते गिनने वालों में तुम्हें श्रेष्ठ धार्मिक शक्तिसम्पन्न मनुष्य कभी नहीं मिल सकते। मनुष्य का सर्वोपरि उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म है, पर उसके लिए पत्ते गिनने की जरूरत नहीं। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो, तो यह जानना जरूरी नहीं की ईसा मसीह यरूसलेम में पैदा हुए या बेथलहम में; या उन्होंने शैलोपदेश ठीक किस तिथि को सुनाया था; तुम्हें तो केवल उस शैलोपदेश के अनुभव करने की आवश्यकता है। यह उपदेश किस समय दिया गया, इस विषय में दो हजार शब्द पढ़ने की जरूरत नहीं। वह सब तो विद्वानों के विलास के लिए है। उन्हें उसे भोगने दो; तथास्तु कह दो और आओ, हम आम खाएँ।

धर्म का उद्देश्य धर्म ही है। जो धर्म केवल सांसारिक सुख का साधन है, वह अन्य चाहे जो कुछ भी हो, धर्म नहीं है।

हर धर्म का लक्ष्य व साध्य भगवत्प्राप्ति ही है। सबसे बड़ी शिक्षा केवल भगवान की ही आराधना करने की है।

धर्म एक है, पर इसकी साधना में अनेकता होनी चाहिए।

मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में ही सन्निहित होता है।

धर्म के बारे में झगड़ा मत करो। धर्म-विषयक सभी झगड़े -फसादों से आध्यात्मिकता का अभाव ही प्रकट होता है। धार्मिक झगड़े सदा खोखली बातों के लिए होते हैं। जब पवित्रता नहीं रहती, जब आध्यात्मिकता विदा हो जाती है तथा आत्मा को नीरस बना देती है, तभी झगड़े शुरू होते हैं।

धर्म ईश्वर की प्राप्ति है।

सच्चा धर्म पूर्ण रूप से इन्द्रियातीत भूमि का विषय है। विश्व के हर जीव में इन्द्रियातीत होने की शक्ति सुप्त रूप से विद्यमान है। छोटे-से-छोटा कीड़ा भी एक दिन इन्द्रियातीत हो जाएगा और परमेश्वर तक पहुँच जाएगा। कोई भी जीवन व्यर्थ न होगा। इस विश्व में व्यर्थ नामक कोई वस्तु है ही नहीं।

अधिकांश लोगों के लिए धर्म एक तरह के बौद्धिक मत में ही समाप्त हो जाता है। मैं इसे धर्म नहीं कहता। इस तरह का धर्म पालन करने की अपेक्षा तो नास्तिक होना अच्छा है।

इस बात को ध्यान में रखो कि धर्म न बातों में है, न सिद्धान्तों में और न पुस्तकों में, वह है प्रत्यक्ष अनुभव में।

धर्म के क्षेत्र में हम सब बच्चे ही हैं। हम उम्र में चाहे बूढ़े हों, चाहे हमने संसार की सारी पुस्तकों का अध्ययन कर लिया हो, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम सब बच्चे ही हैं। हमने सूत्रों और सिद्धान्तों का तो अध्ययन किया है, पर अपने जीवन में अनुभूति या साक्षात्कार कुछ भी नहीं किया।

कुछ लोगों की धारणा है कि दुनिया में केवल एक ही धर्म, एक ही अवतार या एक ही पैगम्बर हो सकता है, पर यह धारणा सत्य नहीं है। इन महापुरुषों के जीवन का अध्ययन-मनन करने से ज्ञात होता है कि उनमें से प्रत्येक को विधाता ने मानो केवल एक अंश का अभिनय करने के लिए ही निर्दिष्ट किया था। हम यह भी देखेंगे कि किसी एक स्वर से नहीं, वरन् सब स्वरों के समन्वय से ही एकलयता उत्पन्न होती है।

मैंने अपने अल्प अनुभव से यही सीखा है कि धर्म में जो दोष व त्रुटियाँ लोग देखते हैं, उनके लिए धर्म का कोई दायित्व नहीं है, धर्म का कोई दोष नहीं है। धर्म ने कभी लोगों पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी, धर्म ने कभी स्त्रियों को चुड़ैल और डायन कहकर जीवित जला देने का आदेश नहीं दिया, किसी धर्म ने कभी ऐसे अन्यायपूर्ण कार्य की शिक्षा नहीं दी। तब फिर ये अत्याचार या अनाचार करने के लिए लोगों को किसने भड़काया? राजनीति ने – धर्म ने नहीं, और यदि इस प्रकार की कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण कर ले, धर्म का नाम धारण कर ले, तो दोष किसका है?

मेरा धर्म अथवा तुम्हारा धर्म, मेरा राष्ट्रीय धर्म तथा तुम्हारा राष्ट्रीय धर्म अथवा नाना प्रकार के अलग अलग धर्म आदि विषय वास्तव में कभी नहीं थे। संसार में केवल एक धर्म है। अनन्त काल से केवल एक ही सनातन धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीति से प्रकट होता है।

मैं यह नहीं समझ पाता कि कुछ लोग यह कहते हुए भी कि मैं ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ, यह भाव कैसे रखते हैं कि ईश्वर ने कुछ थोड़े से ही लोगों को पूरे सत्य का ठेका दे दिया है और वे ही सारी शेष मनुष्य जाति के संरक्षक हैं।

समस्त धर्म-जगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों की, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है।

मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके दिव्य बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या ग्रन्थ तो धर्म जीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए। मनुष्य को ईश्वर प्राप्ति करनी चाहिए, ईश्वर का अनुभव करना चाहिए, ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिए तथा उससे बातचीत करनी चाहिए, यही धर्म है।

जब जीवन की वर्तमान अवस्था में भयानक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जब अपने जीवन के प्रति भी ममता नही रह जाती, जब इस जोड़-तोड़ से अपार घृणा उत्पन्न हो जाती है, जब मिथ्या और पाखण्ड के प्रति प्रबल वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है, तभी धर्म प्रारम्भ होता है।

अज्ञानपूर्वक केवल खा-पीकर जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्धक्षेत्र में मरना श्रेयस्कर है। यही धर्म की नींव है। जब मनुष्य इस नींव पर खड़ा होता है, तब समझना चाहिए कि वह सत्य की प्राप्ति के पथ पर, ईश्वर की प्राप्ति के पथ पर चल रहा है।

धार्मिक होने के लिए भी पहले यह दृढ़ प्रतिज्ञा जरूरी है कि – मैं अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ लूँगा। सत्य को जानूँगा या फिर इसी प्रयत्न में प्राण दे दूँगा। कारण, संसार की ओर से तो और कुछ पाने की आशा है ही नहीं, यह तो शून्यस्वरूप है – दिन-रात उड़ता जा रहा है। ... और दूसरी ओर है विजय का प्रलोभन – जीवन की सभी बुराइयों पर विजय-प्राप्ति की सम्भावना। और तो और, स्वयं के जीवन और जगत् पर भी विजय-प्राप्ति की सम्भावना है। इसी उपाय से मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है।

मेरे गुरुदेव कहा करते थे – गीध बहुत ऊँचे उड़ते हैं, पर उनकी दृष्टि मरे हुए जानवरों के शव पर ही रहती है। वस्तुत: धर्म-सम्बन्धी तुम्हारी सारी धारणाओं का क्या फल है? सड़क की सफाई और उत्तम प्रकार के अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध? अन्न-वस्त्र की कौन परवाह करता है? हर मुहूर्त लाखों लोग आ रहे हैं, लाखों जा रहे हैं – किसे परवाह है? इस क्षुद्र जगत् के सुख-दु:ख का क्या मूल्य है? यदि साहस हो, तो इनके बाहर चले जाओ, सब नियमों के परे चले जाओ, समग्र जगत् उड़ जाय – तुम अकेले आकर खड़े रहो। कहो – मैं परम सत्, परम चित् और परम आनन्द स्वरूप हूँ – सोऽहं, सोऽहं।

धर्म अनुभूति की वस्तु है – वह मुख की बात, मतवाद अथवा युक्तिमूलक कल्पना मात्र नहीं है – चाहे वह जितना ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्म-स्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना – उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है – वह केवल सुनने या मान लेने की चीज नहीं है। समस्त मन-प्राण विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जाना चाहिए।

सभी धर्मभावों की पृष्ठभूमि केवल त्याग ही है और तुम सदैव देखोगे कि जैसे जैसे त्याग का भाव क्षीण होता जाता है, वैसे वैसे धर्म के क्षेत्र में इन्द्रियों का प्रभाव बढ़ता जाता है और उसी मात्रा में आध्यात्मिकता का ह्रास होता जाता है।

हिन्दू भावों को अंग्रेजी भाषा में व्यक्त करना; शुष्क दर्शन, पेचीदी पौराणिक कथाओं तथा आश्चर्यजनक मनोविज्ञान से एक ऐसे धर्म का निर्माण करना, जो सरल, सहज और लोकप्रिय हो और उसके साथ ही उन्नत मस्तिष्कवालों को भी सन्तुष्ट कर सके। इस कार्य की कठिनाइयों को वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया हो। **अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में दिन-प्रतिदिन के जीवन के लिए कविता का रस और जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करना है; अति उलझी हुई पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं; तथा बुद्धि को भ्रमित कर डालनेवाली योग-विद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक और क्रियात्मक मनोविज्ञान का विकास करना है – और इन सबको एक ऐसे रूप में लाना पड़ेगा कि बच्चा बच्चा इसे समझ सके। मेरे जीवन का यही कार्य है।**

मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जो सब प्रकार की मानसिक अवस्थावाले लोगों के लिए उपयोगी हो; इसमें ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म समभाव से रहेंगे। यदि कॉलेज से वैज्ञानिक और भौतिकशास्त्री प्राध्यापक आयें, तो वे युक्ति-तर्क पसन्द करेंगे। उनको यथासम्भव युक्ति-तर्क करने दो। वैसे ही यदि कोई योगप्रिय व्यक्ति आयें, तो हम आदर के साथ उनकी अभ्यर्थना करके वैज्ञानिक भाव से मनस्तत्त्व का विश्लेषण कर देने और उनकी आँखों के समक्ष उसका प्रयोग दिखाने को तैयार रहेंगे। यदि भक्त लोग आयें, तो हम उनके साथ बैठकर भगवान के नाम पर हँसेंगे और रोएँगे, प्रेम का प्याला पीकर उन्मत्त हो जाएँगे। और यदि पुरुषार्थी कर्मी आए, तो उसके साथ यथासाध्य काम करेंगे। **भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म का ऐसा समन्वय सार्वभौमिक धर्म का अत्यन्त निकटतम आदर्श होगा।** प्रभु की इच्छा से यदि सब लोगों के मन में इस ज्ञान, भक्ति, और कर्म का हर भाव ही पूर्ण मात्रा में और साथ ही समभाव से विद्यमान रहे, तो मेरे मत से **मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा।** जिसके चरित्र में इन भावों में से एक या दो प्रस्फुटित हुए हैं, मैं उन्हें एकांगी कहता हूँ और सारा संसार ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है, जो केवल अपना ही रास्ता जानते हैं। बाकी जो कुछ हैं, वह सब उनके निकट विपत्तिकर और भयंकर हैं। इस तरह चारों तत्त्वों का समभाव से विकास लाभ करना ही मेरे कहे हुए धर्म का आदर्श है।

यदि कभी किसी धर्म को सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा, वह न केवल उस असीम ईश्वर के जैसा ही असीम, बल्कि इन सबकी समष्टि होगा, और साथ ही उसमें विकास के लिए अनन्त सम्भावना होगी; जो इतना उदार होगा कि अपने में सबको स्थान दे सकेगा – पशुओं के स्तर से किंचित् उन्नत निम्नतम जंगली मनुष्य से लेकर उन उच्चतम मनुष्यों तक को अपने बाहुओं से आलिंगन कर सकेगा, जो अपने हृदय तथा मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से इतना ऊपर उठ गए हैं कि जिनके प्रति सारा समाज श्रद्धावनत हो जाता है और लोग जिसके मनुष्य होने में सन्देह करते हैं। वह धर्म ऐसा होगा, जिसकी नीति में उत्पीड़न या असहिष्णुता को कोई स्थान न होगा; वह हर नर-नारी में दिव्यता को स्वीकार करेगा और अपनी पूरी शक्ति का मानवता को उसके सच्चे, दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही उपयोग करेगा।

❖ (क्रमश:) ❖

स्थितप्रज्ञ का स्वरूप
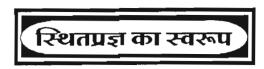
स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमारे धर्मग्रन्थों में आत्मप्रबुद्ध तथा आत्मज्ञानी व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ पुरुष के नाम से सम्बोधित किया गया है तथा वहाँ विस्तार से उसके लक्षणों की चर्चा की गई है। किन्तु अनेक व्यक्ति गीता तथा अन्य धर्मग्रन्थों में स्थितप्रज्ञ पुरुष की विशेषताओं को पढ़कर ऐसा समझते है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष मानो पाषाण या जड़वत् वस्तु हो, जिसमें कोई चेतना न हो – वह सुख-दुःख, शीत-उष्ण में अविकारी रहता है। वे यह सोचते हैं कि क्या मनुष्य की ऐसी स्थिति सम्भव है? और यदि है भी तो क्या वह उपादेय है? फिर स्थितप्रज्ञ व्यक्ति और पागल में फर्क ही क्या रहा?

असल में हमारे धर्मग्रन्थों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के जो गुण बताये गये हैं, उनकी प्राप्ति जीवन में सम्भव है। पर वह कोई जड़ अवस्था नहीं है। वहाँ पर चैतन्य अत्यन्त तीव्र रूप से स्पन्दित होता है। जो लक्षण गीता में स्थितप्रज्ञ के बताये गये हैं, वे उस पुरुष के मनोभाव के बाहरी प्रकाश हैं। इस स्थिति को पहुँचा हुआ व्यक्ति मानसिक सन्तुलन की अवस्था प्राप्त करता है। अनुकूल होने पर वह सुख से फूलता नहीं और प्रतिकूल होने पर वह उद्विग्न नहीं होता। तात्पर्य यह कि वह अनुकूलता-प्रतिकूलता और इसी प्रकार सारे द्वन्द्वों को प्रकृति का प्रवाह मानता है और वह स्वयं इस प्रवाह से अपने को परे समझता है – साक्षी के रूप से। इसीलिए वह निर्द्वन्द्व होता है। यह अवस्था सतत अभ्यास से प्राप्त हो सकती है – विवेक और वैराग्य के अभ्यास से लोगों ने इस स्थिति को प्राप्त किया है।

यह अवस्था उपादेय भी है, बल्कि यों कहें – यही अवस्था समस्त रचनात्मक शक्ति की ही नींव है। इसको समझाने के लिए एक उदाहरण दें। आप कोई मैच देख रहे हैं। आप दोनों दलों में से किसी की ओर नहीं हैं। आप निष्पक्ष दर्शक हैं। मैच देखने में आपको अधिक आनन्द मिलेगा या किसी एक विशिष्ट दल वाले व्यक्ति को? निश्चय ही आपको। किसी भी दल से सम्बन्धित व्यक्ति आपके समान आनन्द नहीं उठा सकता। वह तो अपने दल की हार-जीत से चिन्तित रहेगा। दूसरे दल के खिलाड़ी का सुन्दर खेल उसे कोई आनन्द नहीं दे सकेगा। पर आप निष्पक्ष हैं, निर्दलीय हैं, इसलिए दोनों ओर के खिलाड़ियों के खेल का आनन्द उठा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में दोनों विपरीत अवस्थाओं का आनन्द उठाता है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख के समान दुःख में भी आनन्द का प्रकाश देखता है। यह सत्य है कि यह बड़ी ऊँची अवस्था है, किन्तु इसे एक असम्भाव्य अवस्था नहीं कहा जा सकता। हमारे आध्यात्मिक ग्रन्थ इसी अवस्था को जीवन के लक्ष्य के रूप में निर्देशित करते हैं।

पागल व्यक्ति के बाहरी क्रियाकलाप ऊपरी तौर पर देखने से स्थितप्रज्ञ के व्यवहारों के समान प्रतीत हो सकते हैं, पर पागल और स्थितप्रज्ञ की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। कल्पना कीजिए – प्रकाश के अभाव में जो अन्धकार रहता है उसकी और साथ ही चौंधियाती रोशनी की। ऊपर-ऊपर से दोनों समान से लगते हैं, क्योंकि दोनों ही दशाओं में आँखें अपना काम नहीं कर पातीं। पर कितना अन्तर दोनों में है। यही बात पागल और स्थितप्रज्ञ की है। एक में अज्ञान का, विक्षिप्तता का अन्धकार विद्यमान है और दूसरे में ज्ञान का, सुबोधता का चौंधियाता प्रकाश संस्थित है। इसलिए श्री भगवान गीता में कहते हैं – "हे पार्थ! जब कोई व्यक्ति अपने मन के समस्त काम का परित्याग करता है और अपने आप में सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसको आसक्ति नहीं होती, जिसके प्रीति, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, उसी को स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है।" ❑❑❑

अंगद-चरित (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके छठवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

अंगद के चरित्र की जो पृष्ठभूमि थी और उनके चरित्र में जैसा क्रम-विकास हुआ, अब तक उसी पर दृष्टि डालने की चेष्टा हुई थी। अब उसी क्रम को आगे बढ़ाते हैं।

जनकनन्दिनी सीताजी की खोज में सर्वश्रेष्ठ वानरों को दक्षिण दिशा में भेजा जाता है। परन्तु इस कार्य के लिए प्रभु ने अंगद को नहीं, बल्कि हनुमानजी को चुना। ऐसी स्थिति में अंगद के मन में किंचित् ग्लानि होनी अस्वाभाविक न थी। पर जैसा कि हमने देखा – अंगद की उपेक्षा करके या हीन मानकर प्रभु ने उन्हें यह कार्य न सौंपा हो, ऐसी बात नहीं है।

साधना का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता और योग्यता भिन्न प्रकार की होती है। ऐसी स्थिति में, बहुधा कुछ लोगों के लिए कह दिया जाता है कि ये योग्य हैं और साथ ही कुछ व्यक्तियों के लिए यह कह दिया जाता है कि ये बिल्कुल भी योग्य नहीं, एकदम् अयोग्य हैं। परन्तु संस्कृत में एक प्रसिद्ध वाक्य है – **अयोग्यो पुरुषो नास्ति प्रयोजका तत्र दुर्लभाः**। तात्पर्य यह कि वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अयोग्य नहीं होता और जो अयोग्य प्रतीत होता है, उसमें भी कोई-न-कोई योग्यता होती है। पर उस योग्यता को पहचानकर उस योग्यता का सदुपयोग करनेवाले व्यक्ति बड़े विरल होते हैं।

भगवान राम भिन्न भिन्न भूमिकाओं में भिन्न भिन्न पात्रों को प्रस्तुत करते हैं। इसमें उद्देश्य यह है कि जिसमें जो योग्यता या क्षमता हो, उसका अधिक-से-अधिक सदुपयोग हो सके। आप देखेंगे कि इस जनकनन्दिनी की खोज में भले ही एकमात्र हनुमानजी ही सफल होते हैं, पर इस खोज में विभिन्न पात्रों की जो विभिन्न भूमिकाएँ थीं, वे सभी महत्त्वपूर्ण थीं। इस खोज में एक बड़ी सांकेतिक बात कही गई कि बन्दरों को अन्त में श्री सीताजी के लंका में होने की सूचना सम्पाती नामक गिद्ध से मिली, जिसने बन्दरों का ध्यान लंका की ओर आकृष्ट किया।

तहँ असोक उपबन जहँ रहई।
सीता बैठि सोच रत अहई।। ४/२८/१२
मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार। ४/२८

यदि आप पूरे मानस के क्रम पर विचार करके देखें, तो यहाँ जो गिद्ध को चुना गया, उसका आपको सांकेतिक अभिप्राय तथा एक अनोखा सूत्र मिलेगा। भगवान श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, ईश्वर हैं, और वे ईश्वर से नर बने हैं। नर बनकर वे नगर में व्यक्त होते हैं, जन्म लेते हैं। अयोध्या विशाल नगर है। वे मनुष्य के रूप में पहले नगर में नागरों का सदुपयोग करते हैं। नगर से एक शब्द बना है – 'नागर' जिसका अर्थ है चतुर। इसका अभिप्राय है कि नगर में रहनेवाला नागर है और यह मान लिया गया कि नगर में रहनेवाले को बुद्धिमान और चतुर होना चाहिए। लेकिन भगवान राम को अयोध्या में रहकर ही सन्तोष नहीं हुआ और जब कैकेयी अम्बा के आदेश से उन्हें वन जाने का अवसर मिला, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। इस पूरी यात्रा में एक क्रमिक सोपान का संकेत है।

नगर से निकलकर प्रभु सबसे पहले जिस व्यक्ति से मिले, जिसके साथ उनका बड़ा अनोखा सम्वाद हुआ, वह था – केवट, जो गाँव का निवासी था। जैसे नगर से 'नागर' शब्द बना है, वैसे ही गाँव से 'गँवार' शब्द बन गया है। गाँव में रहनेवाले को गँवार कह दिया जाता है। नागरों का सदुपयोग करके प्रभु को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा – अब देखें कि गँवार कहलाने वाले ग्रामीण भी मेरे कितने काम के हैं। और तब आप केवट की भूमिका देखते हैं। केवट की भाषा बड़ी अटपटी है। वह कोई बहुत सभ्य और सन्तुलित भाषा नहीं है। अयोध्या या जनकपुर में भगवान से जैसी भाषा में बात की जाती रही है, केवट की वैसी भाषा नहीं है। भले ही केवट गाँव का निवासी हो, भले ही उसकी भाषा में शालीनता न हो, परन्तु भगवान श्रीराघवेन्द्र बड़े स्नेह से बार बार कहते हैं – प्रिय केवट, हमें गंगा से पार उतारने का कार्य वस्तुतः तुम्हारे द्वारा ही पूरा होगा। सचमुच भगवान श्रीराघवेन्द्र ने एक अद्भुत कार्य किया। उन्होंने केवट को यह अद्भुत गौरव प्रदान किया कि जो सारे संसार को पार उतारनेवाला ईश्वर है, वह एक केवट के द्वारा पार उतारा गया। इससे बढ़कर गौरव की बात किसी के लिए और क्या हो सकती है!

केवट ने प्रस्ताव किया था कि आप शृंगवेरपुर में ही रह जाइए, पर भगवान राम वहाँ रुके नहीं, वे तो आगे की ओर बढ़ते जा रहे हैं। 'नागर' तो एक प्रशंसा का शब्द है और इससे नीचे उतरें तो 'गँवार' का स्थान आता है, परन्तु इससे निकृष्ट एक और शब्द है और वह है – 'जंगली'। यदि किसी को 'जंगली' कहें, तो इसका अर्थ है कि वह व्यक्ति अत्यन्त

हेय है। भगवान नागर से ग्रामवासी और ग्रामवासी से आगे निकल गए जंगल के निवासी कोल-किरातों के पास।

गोस्वामीजी ने एक अनोखी बात कही। किसी ने कहा – अरे, ये वनवासी तो बिल्कुल बदल गए हैं, तो गोस्वामीजी ने हँसते हुए कहा – "बदल कहाँ गए हैं, पहले भी लूट-पाट करते थे और अब भी लूट-पाट ही तो कर रहे हैं। हाँ इतना अन्तर जरूर पड़ गया है कि पहले साधारण लोगों को लूटते थे और आज उन्होंने सुना कि अयोध्या के राजकुमार आए हुए हैं, तो उन्होंने सोचा कि यहाँ लूट-पाट करने में तो और भी अधिक मिलने की सम्भावना है।" गोस्वामीजी शब्द कितना विलक्षण चुनते हैं – जब मिथिला के नागरिक दर्शन के लिए जाते हैं तो गोस्वामीजी कहते हैं – **धाए धाम काम सब त्यागी**। गोस्वामीजी भी वहाँ पर उत्सुक होकर प्रभु के दर्शन के लिए जा रहे हैं। परन्तु जब चित्रकूट के ये कोल-किरात प्रभु के पास आते हैं, तब गोस्वामीजी कहते हैं – ये तो बड़े चतुर निकले। – क्यों? बोले – ये कोल-किरात मानो लूटकर ही साक्षात् ईश्वर को पा लेते हैं –

कंद मूल फल भरि भरि दोना।
चले रंक जनु लूटन सोना ।। २/१३५/२

एक तो पाने की पद्धति यह है कि व्यक्ति व्यापार करे, नौकरी करे और उसके बदले उसको कुछ मिले। और लूट का अर्थ तो यह है कि परिश्रम किया किसी और ने और पाया किसी दूसरे व्यक्ति ने – बिना परिश्रम के, छीनकर, लूटकर, डाका डालकर। उनसे पूछा गया – आप लोग लूटकर क्यों पाना चाहते हैं? इस पर कोल-किरातों ने कहा – "ईश्वर को वन में बुलाने के लिए साधना तो मुनियों ने की और हम लोगों के जीवन में न तो जप है, न तप है, न यज्ञ है; ऐसी स्थिति में हम लोग तो लुटेरे के रूप में ईश्वर को लूटकर ही पा सकते हैं।" और वह ईश्वर भी इतना उदार है कि सचमुच वह लुट जाने के लिए ही तो आया हुआ है। भगवान मानो कहते हैं कि दरिद्रता के कारण ही तो व्यक्ति किसी दूसरे को लूटता है, पर भौतिक वस्तु को लूटने से ही तो व्यक्ति की दरिद्रता नहीं मिट पाती। वस्तुतः ये कोल-किरात तो भगवान को लूटकर इतने धनी हो गए, इतने ऊँचे उठ गए कि इनकी दरिद्रता तो समूल नष्ट हो गई, ऊपर से धनिकता भी इतनी बढ़ गई कि इसका पता तब चला, जब अयोध्या के नागरिक चित्रकूट आए।

बड़ा अनोखा सम्मेलन हो रहा है। अयोध्या के नागरिक, साथ में गाँव का गँवार केवट और फिर चित्रकूट में रहनेवाले जंगली। विचित्र त्रिवेणी-संगम है। जब कोल-किरातों ने देखा कि हमारे प्रभु के पास इतने अतिथि आए हुए हैं, तो उन्हें प्रभु के प्रति इतने अपनत्व की अनुभूति होने लगी कि श्रीराम तो हमारे अपने हैं और अयोध्या के नागरिक यहाँ अतिथि के रूप में आए हुए हैं। ऐसी स्थिति में इनका सत्कार करना चाहिए। गोस्वामीजी ने कहा – वे सारे कोल-किरात कन्द-मूल-फल-मधु लेकर दौड़े। नागरिकों ने देखा ये लोग तो बड़े गरीब हैं। नागरिक बड़े उदार थे, उनके मन में आया कि इनकी सहायता करनी चाहिए, इन्हें कुछ देना चाहिए। उन्हें यही उचित प्रतीत हुआ कि इनके ये कन्द-मूल-फल जितने मूल्य के हो, उससे कई गुना अधिक इन्हें दे दिया जाय, ताकि इनकी गरीबी दूर हो। परन्तु अब तो एक नया दृश्य सामने आया। – क्या? गोस्वामीजी कहते हैं – देने पर भी नहीं लेते –

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। २/२५०/४

पहले तो नागरिकों ने धन देकर उनकी सहायता करनी चाही, पर जब नहीं लिया तो बुद्धि से हराने की चेष्टा की। नागरिकों ने कहा – आप वस्तु का दाम नहीं लेंगे, तो हम भी फल नहीं लेंगे। अयोध्या के नागरिकों का विश्वास था कि अब तो ले ही लेंगे, पर वनवासियों ने ऐसे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया कि नागरिकों को हार जाना पड़ा। गोस्वामीजी कहते हैं – वे लोग श्रीराम को दुहाई देने लगे –

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं।
फेरत राम दोहाई देहीं ।। २/२५०/४

श्रीराम को दुहाई देने का अर्थ यह है कि आप लोग तो श्रीराम की मर्यादा के अनुकूल आचरण नहीं कर रहे हैं। – कैसे? बोले – "जब प्रभु हम लोगों से कन्द-मूल-फल लेने में संकोच नहीं करते, तो क्या आप लोग स्वयं को उनसे बड़ा मानते हैं? हम जब कन्द-मूल-फल लेकर आए, तो प्रभु ने तो उसे बड़े प्रेम व उत्साह से ग्रहण किया। और जब हम आपके लिए लाये हैं, तो आप उसकी कीमत दे रहे हैं।" अयोध्या के नागरिकों ने पूछा – आप लोगों में तो बड़ी दरिद्रता थी? वे लोग बोले – "हम भला दरिद्र कैसे रहे? श्रीराम आप लोगों से दूर आ गए हैं, अतः हो सकता है कि आपके पास अभाव हो। हमने तो श्रीराम को पा लिया है। यदि आप लोग कुछ समय पहले आए होते तो – हम आपके कपड़े और बर्तन ही चुरा लेते। हममें तो सपने में भी धर्मबुद्धि नहीं आ सकती, यदि कुछ है तो यह श्रीराम के दर्शन का प्रभाव है –

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई।
लेहिं न बासन बसन चोराई ।। २/२५१/३
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।
यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ ।। २/२५१/६

भगवान राम वहाँ भी – चित्रकूट के वन में भी नहीं रुके। क्यों? 'जंगली' से भी बुरा एक शब्द और है। शब्द प्रयोग में किसी को 'गँवार' कहें तो बुरा लगेगा, 'जंगली' कह दें तो और भी बुरा लगेगा, पर यदि किसी को 'पशु' या 'जानवर' कह दें, तो उसे कितना बुरा लगेगा। प्रभु ने कहा – जंगली तो मिल गए, पर अभी पशुओं से मित्रता नहीं हुई है, इसलिए

अब पशुओं की खोज में चलें। ध्यान देने की बात है कि इस अरण्य-काण्ड और विष्किंधा-काण्ड की यात्रा के दौरान प्रभु ने किसका सदुपयोग किया? – पक्षियों और पशुओं का।

'पक्षियों' में भी बड़ी सांकेतिक भाषा है। – क्या? पक्षी तो भगवान राम को नगरों में भी मिलते रहे हैं। अयोध्या में भी पक्षी थे और मिथिला में भी। पर सांकेतिक भाषा यह है कि वे पक्षी कौन थे? जब मिथिला की वाटिका में प्रभु गए, तो वहाँ पर उन्हें चातक, कोकिल, कीर, चकोर, मोर मिले –

चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नटत कल मोरा।। १/२२७/६

फिर चित्रकूट गये, तो वहाँ भी बड़े सुन्दर पक्षी थे – चकवे, चकोर, पपीहे, तोते, कोयलें तथा सुन्दर हंस प्रसन्न हो कूज रहे थे; भौंरे गुंजार कर रहे थे और मोर नाच रहे थे –

चक चकोर चातक सुक पिक गन।
कूजत मंजु मराल मुदित मन।।
अलिगन गावत नाचत मोरा।
जनु सुराज मंगल चहु ओरा।। २/२३६/६-७

भगवान राम जब चित्रकूट छोड़कर जाने लगे, तो किसी ने उनसे पूछा – प्रभो, जहाँ इतने महान् ऋषि, ऐसे भावुक कोल-भील, वनवासी और सुन्दर पक्षी कलरव कर रहे हैं, इन्हें छोड़कर आप कहाँ जा रहे हैं? भगवान राम बोले – पक्षी तो मिले, पर सब अच्छे-ही-अच्छे मिले, अभी तक गिद्ध आदि नहीं मिले। रामायण में यह कहने की एक शैली है। इसका अर्थ है कि मिथिला में भी कोई गिद्ध नहीं मिला और अयोध्या तथा चित्रकूट में भी कोई गिद्ध नहीं मिला। भगवान कहते हैं कि जो श्रेष्ठ पक्षी हैं, केवल वे ही कल्याणकारी नहीं हैं। जो गिद्ध, कौए आदि जो सर्वाधिक निन्दनीय पक्षी माने जाते हैं, उनका भी सदुपयोग है। यह रामायण की सांकेतिक भाषा है। चातक का सदुपयोग है। चातक हैं लक्ष्मणजी –

भावते भरत के सुमित्रा सीता के दुलारे,
चातक चतुर राम स्याम घन के।। विनय., ३७

कोकिला हैं जनकपुर की स्त्रियाँ –

कहहिं परसपर कोकिलबयनीं।
यह बिआहँ बड़ लाभ सुनयनीं।। १/३१०/७

चकोरी हैं सीताजी –

सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।। १/२३१/६

इसका तात्पर्य यह है कि अब तक प्रभु को जो भक्त मिले, उनमें कोई चातक की तरह, कोई कोकिल की तरह, कोई तोते की तरह, कोई चकोर की तरह और कोई मोर की तरह था। परन्तु प्रभु ने कहा – नहीं, भक्त केवल ये ही लोग तो नहीं हो सकते, गिद्ध भी भक्त हो सकता है। अरण्य-काण्ड में उन्होंने जो स्थान चुना, वहाँ सबसे पहले उन्होंने किससे परिचय प्राप्त किया? गोस्वामीजी कहते हैं – गिद्धराज से मिलकर भगवान राम ने खूब प्रेम बढ़ाया और कहा कि हम तो यहीं रहेंगे, क्योंकि रक्षा के लिए भी तो कोई चाहिए। आपकी सुरक्षा में हम आपके पास ही रहेंगे –

गीधराज सैं भेंट भई बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।। ३/१३

जिसे व्यक्ति घृणा का पात्र मानता है, जिसकी ओर देखना नहीं चाहता, भगवान राघवेन्द्र उसे कितना महत्त्व देते हैं, उसे पिता के समान सम्मान देते हैं और कहते हैं – आपके आश्रय में हम सुरक्षित हैं। यहाँ उस गिद्ध का कुछ सदुपयोग हुआ या नहीं? वह था भी तो बिल्कुल वृद्ध, जीर्ण-शीर्ण देहवाला। पर सांकेतिक भाषा यह है कि – नहीं, इस पक्षी ने तो अपना नाम सार्थक बना दिया। पक्षी का अर्थ है – जिसमें पक्षपात हो।

साधारणत: पक्षपात तो सभी मे होता है, पर सचमुच गिद्ध का पक्षपात धन्य था। जब रावण जनकनन्दिनी सीता का हरण करके ले जाने लगा, तब गिद्धराज ने सीताजी का पक्ष लेकर रावण को युद्ध की चुनौती देते हुए उस पर आक्रमण कर दिया, मानो प्रभु के विश्वास को उन्होंने सार्थक बना दिया। उन्होंने भक्ति का पक्ष लिया, रावण से लड़े और पहले तो एक बार रावण को हरा दिया, पर बाद में रावण ने तलवार से उनके पक्ष काट दिये। रावण का अभिप्राय था – तूने पक्ष लिया सीता का, ले मैं तेरे पक्ष ही काटे देता हूँ। अब न तेरे पक्ष रहेंगे, न तू पक्षपात करेगा। तब, बेचारे गिद्धराज तो पक्षी ही थे, पंखविहीन होकर गिर पड़े।

भगवान श्रीराम आए और गिद्ध को गोद में उठा लिया। प्रभु की आँखों में आँसू आ गए। बोले – कितना निर्दयी है रावण, जिसने आपका पंख काट दिया। गिद्ध ने कहा – "प्रभो, वह अन्यायी भले ही हो, पर यह पंख जाना तो मेरे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य हो गया। इससे बड़ी धन्यता का क्षण और क्या हो सकता है!" – क्यों? बोले – "जब तक मेरे पास पक्ष था, तब तक मुझे ही उड़कर आपके पास आना पड़ता था, पर अब पक्ष कट गए, तो आपको ही मेरे पास आना पड़ा। इसलिए महाराज, व्यक्ति अगर भक्ति का पक्ष लेकर सांसारिक पक्षों को कटवा दे, विलय कर दे, तो अन्त में भगवान ही उनका पक्ष बन जाते हैं।" भगवान गिद्ध का पक्ष ले लेते हैं, गिद्ध का सदुपयोग करते हैं।

इसी तरह किष्किंधा-काण्ड में प्रभु पशुओं का सदुपयोग करते हैं। यह वानरों से जो मित्रता है और उन वानरों में सुग्रीव जैसे कायर और दुर्बल चरित्रवाले भी हैं और हनुमानीजी जैसे वीर भी। मानो भगवान श्रीराघवेन्द्र यह कहते हैं कि हनुमानजी की महानता तो निश्चित ही है, परन्तु सुग्रीव का भी उपयोग किया जा सकता है। इसी तरह से प्रभु क्रम से आए – ईश्वर से नर बने, नगरों के नागरों को धन्य बनाया, गाँव के गँवारों को धन्य बनाया, जंगल के जंगली लोगों को धन्य बनाया और

उसके बाद पशु-पक्षियों को भी धन्य बनाया। पर उसके बाद भी प्रभु रुके नहीं। – महाराज, अब कहाँ बढ़े जा रहे हैं? पशु से भी एक निकृष्ट शब्द है। यदि किसी को सबसे बुरा शब्द कहना चाहें तो कहेंगे, यह तो मनुष्य नहीं 'राक्षस' है। प्रभु ने कहा – अभी तो राक्षस बाकी हैं। वहाँ तक पहुँचना है।

अब उनके इस यात्रा-क्रम पर दृष्टि डालें। विभीषण को अपना मित्र बनाकर, मंत्री बनाकर, युद्ध में विजय का साधन बनाकर भगवान मानो यह बताना चाहते हैं कि **किसी जाति में, किसी देश में, किसी वातावरण में जन्म लेने से ही व्यक्ति अयोग्य नहीं हो जाता**। महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिए सबका सदुपयोग किया जा सकता है, नागर से लेकर राक्षस तक – सभी अन्तत: जनकनन्दिनी सीताजी की खोज में सहायक हो सकते हैं। यह क्रम है। पर यहाँ प्रभु की विशेषता यही है कि जब जिस व्यक्ति में जो योग्यता है, उससे क्या लाभ लेना है, यह वे जानते हैं। इस सन्दर्भ में जनकनन्दिनी सीताजी की खोज में यह संकेत किया गया। यहाँ पर अंगद और हनुमानजी की भूमिका में थोड़ा अन्तर दिखाई देता है। जैसा कि कहा जा चुका है कि **अंगद में विचार-तत्त्व मुख्य है और हनुमानजी में विश्वास का तत्त्व**। यद्यपि हनुमानजी के लिए ऐसा कहना उतना उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि उनमें तो विचार और विश्वास दोनों चरम उत्कर्ष पर हैं, पर मुख्य रूप से हनुमानजी की जो प्रिय भूमिका है, वह विश्वास की भूमिका है। अब इस क्रम पर विचार कीजिये। इस यात्रा मे सबसे पहले अंगद को नेता चुना गया, उन्हीं को मार्गदर्शक बनाया गया और हनुमानजी सबसे पीछे चल रहे हैं, इसका अभिप्राय क्या है? यात्रा के प्रारम्भ में हनुमानजी नहीं, अंगद आगे हैं। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि साधना के दौरान जब व्यक्ति भक्ति की खोज में चलेगा और उस मार्ग में जब उसे मार्गदर्शन की जरूरत होगी, तो यह उसे अंगद से ही मिलेगा। बालितनय के रूप में अंगद सत्कर्म के प्रतीक हैं, साथ ही उनमें विचार की शक्ति भी विद्यमान है। इसका अभिप्राय यह है कि साधना का जब श्रीगणेश होगा, जब हम भक्ति की खोज में, शक्ति की खोज में चलेंगे, तो सबसे पहले सत्कर्म और सद्विचार का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अत: अंगद भले ही सीताजी के पास नहीं पहुँच सके, परन्तु इस यात्रा में मुखिया के रूप में उनका चुनाव व्यर्थ नहीं था। प्रारम्भ में उन्होने यह भूमिका बहुत दूर तक बड़ी सफलतापूर्वक निभाई। समुद्र-तट पर पहुँचकर जब सारे बन्दर सम्पाती गिद्ध से डर गए, तब वहाँ अंगद की विचार-शक्ति ही तो काम आती है। गोस्वामीजी कहते हैं – सम्पाती का स्वर सुनकर बन्दर काँपने लगे, उस समय अंगद की विचारमूलक भूमिका सामने आयी –

कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ।। ४/२७/७

इसका अभिप्राय यह है कि विचार की दृष्टि से हो, या पुरुषार्थ अथवा कर्म की दृष्टि से, जीवन या साधना में जो यात्रा का श्रीगणेश होता है; उसमें तो अंगद को ही आगे होना चाहिए। दूसरी ओर हनुमानजी तो ऐसे पात्र हैं कि अलग अलग प्रसंगों में आप देखेंगे – कहीं तो सबसे आगे हैं और कहीं सबसे पीछे, कभी दाएँ तो कभी बाएँ। इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय जो जरूरत होती है, वे वही कार्य करते हैं। अत: गोस्वामीजी हनुमानजी के दो नाम लेते हैं। जब सारे बन्दरों में से अंगद ने सर्वप्रथम प्रणाम किया और सबसे अन्त में हनुमानजी आए, तो किसी ने कहा – महाराज, हनुमानजी को तो उत्साहपूर्वक सबसे आगे आना चाहिए था। लगता है उन्हें सीताजी की खोज में विशेष उत्साह नहीं है, इसीलिए वे सबसे पीछे दीख रहे हैं। इसके उत्तर में गोस्वामीजी ने एक साहित्यिक शब्द का प्रयोग किया। बोले – भाई, हनुमानजी तो पवनतनय है –

पाछें पवन तनय सिरु नावा। ४/२३/९

जब यात्रा का सन्दर्भ हो तब तो हवा पीछे से ही चलनी चाहिए, ताकि व्यक्ति तेजी से चल सके। सामने की हवा तो गति में अवरोध ही उत्पन्न करेगी, इसलिए पवनतनय हनुमानजी पीछे हैं। इसमें निरुत्साह नहीं, बल्कि यही अनुकूलता है। पवनतनय की यही भूमिका है, इसीलिए सबसे पीछे हैं। अंगद नेतृत्व कर रहे हैं और हनुमानजी पीछे रहकर सबको गति दे रहे हैं। उनके इस पीछे रहने में कायरता नहीं, अपितु उचित सेवा का अवसर है।

परन्तु आगे चलकर ऐसी स्थिति आ गई कि हनुमानजी को आगे होना पड़ा और वहाँ अंगद के चरित्र की समस्या आती है। उनके जीवन में जो कुछ कमियाँ हैं, ग्रन्थियाँ हैं, वे सामने आती हैं। अंगद बड़े उत्साह से बन्दरों का नेतृत्व करते हुए सीताजी की खोज में आगे बढ़ रहे थे। गोस्वामीजी ने कहा –

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
राम काज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह ।। ४/२३
कतहुँ होइ निसिचर सैं भेंटा।
प्रान लेहिं एक एक चपेटा ।।
बहु प्रकार गिरि कानन हेरहिं।
कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं ।। ४/२४/१-२

अंगद जब किसी मुनि को देखते हैं तो प्रणाम करके पूछते हैं – महाराज बताइए, श्रीसीताजी कहाँ मिलेंगी? मुनि कहते हैं – हम बताने मे असमर्थ हैं। कोई राक्षस मिलते हैं तो उनको भी मारकर यही जानना चाहते है कि सीताजी कहाँ मिलेंगी। पर किसी भी प्रकार से ठीक ठीक पता नहीं चल पा रहा था कि वे कहाँ मिलेंगी। बन्दर अंगद के नेतृत्व में बड़े उत्साह से सारे पर्वतों, नदियों के किनारे, गुफाओं में खोज रहे हैं। लेकिन कुछ लोगो मे प्रारम्भिक उत्साह तो बड़ा तीव्र होता है

और सफलता मिले तो उनका उत्साह बढ़ने लगता है, परन्तु यदि उन्हें समय पर सफलता न मिले, तो उनके उत्साह को बड़ा आघात लगता है। अंगद और अन्य बन्दरों की भी यही समस्या है। प्रारम्भ में उनमें जो उत्साह था, वह इस आशा में था कि उन्हें एक महीने के भीतर सीताजी मिल जायेंगी। पर उस एक महीने के अन्तराल में जब सीताजी नहीं मिलीं, तब वे हतोत्साहित हो गए। उनका उत्साह ठण्डा पड़ गया। अंगद भी दिग्भ्रमित हो गए। तात्पर्य यह कि विचार एवं पुरुषार्थ की जितनी भूमिका थी, उसे अंगद ने भलीभाँति पूरा किया, पर इस प्रतिकूल परिस्थिति में जहाँ बन्दरों के सामने प्रश्न उठा कि अब किधर जायँ, कहाँ खोजें और बन्दरों को प्यास भी बहुत लग आई थी, उनका गला सूख रहा था। तब हनुमानजी की भूमिका आगे आई। उन्होंने मन-ही-मन अनुमान किया कि जल के अभाव में ये सब मरने ही वाले हैं –

लागि तृषा अतिसय अकुलाने ।
मिलइ न जल घन गहन भुलाने ।।
मन हनुमान किन्ह अनुमाना ।
मरन चहत सब बिनु जल पाना ।। ४/२४/३-४

सम्पाती के सन्दर्भ में अंगद की भूमिका और स्वयंप्रभा के सन्दर्भ में हनुमानजी की भूमिका – यह सूत्र ध्यान रहे। यदि आपने इसे ध्यान से पढ़ा होगा, सीताजी की खोज में ये दोनों मुख्य सहायक हैं। स्वयंप्रभा ने भी और सम्पाती ने भी बताया कि सीताजी मिलेंगी। इस खोज में ये जो दो सहायक हैं, उनमें गिद्ध या विचार की भूमि में आप अंगद की भूमिका पायेंगे और स्वयंप्रभा के प्रसंग में विश्वास – हनुमानजी की भूमिका।

सम्पाती की भूमिका विचार की है। सम्पाती स्वयं देहाभिमान से ऊपर उठ चुका है। सम्पाती पहले तो बहुत बड़ा देहाभिमानी था और इसी कारण सूर्य तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील था कि इतना बड़ा विजय प्राप्त करूँ कि विश्व के इतिहास में अमर हो जाऊँ। परन्तु उस अभियान में जब सूर्य के तेज से उसका पंख जल गया और वह नीचे गिरने लगा तो चन्द्रमा मुनि ने उसे उठा लिया और उस पर कृपा करते हुए उन्होंने जो उपदेश दिया, वह सुनाते हुए सम्पाती ने बन्दरों से कहा – देहजनित अभिमान को उन्होंने छुड़ा दिया –

बहु प्रकार तेहिं ग्यान सुनावा ।
देह जनित अभिमान छड़ावा ।। ४/२८/६

सम्पाती देहाभिमान से मुक्त है। इस देहाभिमान से मुक्त होने के लिए विचार की भूमिका है। पर जब प्रतिकूलता हो, मार्ग ठीक ठीक न दिखाई दे रहा हो, निराशा हो, थकान हो, प्यास का अनुभव हो रहा हो, तब वहाँ विचार की नहीं, विश्वास की भूमिका है।

जब हनुमानजी को लगा कि ये सभी बन्दर प्यास से मर जाएँगे, तब उन्होंने कहा कि नीचे तो कहीं जल नहीं दीख रहा है, क्यों न हम पर्वत के ऊपर चढ़कर देखें, शायद कहीं दीख जाय। पर बन्दर तो बेचारे इतने हतोत्साहित हो चुके हैं, इतने थक चुके हैं कि सोचते हैं कि इतने ऊँचे पर्वत पर चढ़ें और वहाँ भी जल न मिला, तब क्या होगा? हनुमानजी ने बन्दरों की मनःस्थिति समझ ली और वे स्वयं पर्वत पर चढ़ गए।

पर्वत पर उन्होंने एक बड़ी विलक्षण गुफा देखी और उसे देखकर वे तत्काल नीचे उतर आए। आकर बन्दरों से कहा – आप लोग मेरे साथ चलिए। यह रामायण की बड़ी सांकेतिक भाषा है। गोस्वामीजी यहाँ लिख सकते थे कि पर्वत पर कहीं एक झरना या एक नदी की धारा थी; पर नहीं, उन्होंने कहा –वहाँ एक गुफा थी और हनुमानजी ने बन्दरों से कहा कि उसके भीतर जल है, पर जल प्रत्यक्ष नहीं दिखाई दे रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि अपने जीवन में साधना करते समय ईश्वर की कृपा झरने या नदी की भाँति कभी कभी तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है; पर कभी कभी वह कृपा इतनी अन्तरंग या गुह्य होती है कि व्यक्ति यदि बाहर से देखे तो उसे कृपा नहीं दिखती। उसे नहीं लगता कि हम पर भगवान की कृपा हो रही है या प्राप्त है।

इस समय बन्दरों की दशा ऐसी ही है कि उन्हें भगवान की कृपा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे रही है। क्योंकि उनका तर्क यह था कि जब वे सीताजी की खोज में चले हैं, तो उन्हें भगवान की सहायता मिलनी चाहिए, सीताजी की प्राप्ति होनी चाहिए; पर नहीं होने से लगता है कि कृपा नहीं है। इधर हनुमानजी जिस गुफा से परिचित हैं, वही भगवत्कृपा की गुफा है। वे बन्दरों से कहते हैं – "मित्रो, गुफा में जल अवश्य मिलेगा। इसका प्रमाण देते हुए वे बोले – इसमें जल भले ही दिखाई न दे रहा हो, पर जल के पक्षी भीतर जा रहे हैं। यदि जल न होता, तो ये पक्षी इतने आतुर होकर भीतर की ओर न उड़ते –

चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं ।
बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ।। ४/२४/६

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब हमें भगवान की कृपा का अनुभव न हो और कृपा का जल प्रत्यक्ष दिखाई न दे, तब हम उन सन्तों की ओर देखें, उन पर विश्वास करें जो भगवान की कृपा की ओर तीव्र गति से बढ़ते जा रहे हैं। हमारे मन में उस समय यह अवस्था, यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न होना चाहिए कि जब सन्त लोग महान्-से-महान् त्याग करके इस कृपा की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं, तो बहिरंग में नहीं तो अन्तरंग में कृपा अवश्य ही होगी।

❖ (क्रमशः) ❖

जीवन का सदुपयोग

स्वामी सत्यरूपानन्द

हम प्रायः सुनते हैं कि जीवन क्षणभंगुर है। चार दिन की चाँदनी है। तो क्या जीवन सचमुच क्षणभगुर है? अनित्य है? यदि ऐसा है तो फिर इस क्षणभंगुर और अनित्य जीवन का क्या महत्व है? क्या यह व्यर्थ और निरर्थक है?

यदि ऐसा है तो फिर गीता की इस घोषणा का क्या अर्थ है कि देही नित्य है, अवध्य है? उपनिषद् कहते हैं – **अमृतस्य पुत्राः** – तुम अमृत के पुत्र हो। जीवन का स्रोत तो अमृत है, शाश्वत है, नित्य है, उससे उत्पन्न होने वाला जीवन भला कैसे क्षणभंगुर और अनित्य हो सकता है? अतः अमरता, शाश्वतता, नित्यता, यही जीवन के पर्याय हैं। यही जीवन का अर्थ है। अमरत्व की अनुभूति ही तो सच्चा जीवन है। उसी में तो जीवन की सार्थकता है।

तब इस क्षणभगुर और अनित्य का क्या तात्पर्य है? जीवन-तत्त्व अनित्य और क्षणभंगुर नहीं है। क्षणभंगुर तो यह देह है। देह के सम्पर्क में आनेवाला यह ससार है। देह अनित्य है, देही नहीं। संसार अनित्य है किन्तु संसार को धारण करने वाला तत्त्व परमात्मा अनित्य नहीं है। देह और संसार से ऊपर उठकर जिस तत्त्व का अनुभव होता है, वही शुद्ध जीवन-तत्त्व है। उसकी अनुभूति ही तो जीवन है। उसे जानकर ही तो व्यक्ति स्वय शाश्वत और अनन्त हो जाता है, अमृत स्वरूप हो जाता है।

तब फिर यह क्षणभगुर देह और यह अनित्य ससार क्या है? यह ससार, ये देह उसी अमृतत्व को प्राप्त करने के साधन हैं। ससीम से असीम में पहुँचने के सोपान हैं। अतः यह हेय नहीं हैं। इनका भी अपना महत्व है, मूल्य है, उपयोग है। अतः इन्हें तुच्छ और हेय समझकर इनसे घृणा न करें, व्यर्थ समझकर इनकी अवहेलना या उपेक्षा न करें। दूसरी ओर इन्हें सत्य और शाश्वत समझकर इनमें ही न उलझ जायँ, डूब न जायँ। किन्तु इनका सदुपयोग कर गन्तव्य पर पहुँचा देने वाले वाहन के समान 'आत्मबोध' के चरम लक्ष्य पर पहुँच कर इन्हें छोड़ दें। किन्तु जब तक लक्ष्य पर पहुँच नहीं पाये हैं, तब तक वाहन की उचित एव आवश्यक देखभाव अवश्य करें। इस उपाय द्वारा ही नित्य और अनित्य का समन्वय होगा, सहयोग होगा और तभी हमारा जीवन सार्थक होगा।

जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण हमारे जीवन के सभी भेदभावों को मिटा देता है। और तब जाति, धर्म, रग, देश, प्रान्त आदि भेद – समुद्र में मिलने वाली विभिन्न नदियों के समान दिव्य जीवन में मिलकर एक हो जाते हैं। दिव्य जीवन जीने वाले व्यक्ति के लिये ससार में कोई पराया नहीं रह जाता। उसके लिये सम्पूर्ण विश्व एक नीड़ हो जाता है तथा ऐसा व्यक्ति स्वय विश्व मानव हो जाता है।

❑❑❑

अनमोल उक्तियाँ

* मनुष्य तथा उसके व्यक्तित्व के बीच वही सम्बन्ध है, जो फूल तथा उसकी खुशबू के बीच।
* भविष्य की चिन्ता न करते हुए स्वयं को ईश्वर की इच्छा के प्रति समर्पित कर देना ही परम बुद्धिमत्ता है।
* सुख इस बात पर नहीं निर्भर करता कि तुम क्या पा सकते हो, बल्कि इस पर कि तुम क्या दे सकते हो।
* मंजिल पर पहुँचने की तुलना में आशापूर्वक यात्रा करने में ही ज्यादा सुख है। सच्चा सुख तो प्रयत्न करने में है, सफलता प्राप्त कर लेने में नहीं।
* यदि तुम अपने दुर्भाग्य पर चीखो-चिल्लाओ, तो वह और भी बढ़ता जाता है, परन्तु यदि तुम चुपचाप सहन करते जाओ, तो वह भूखमरी का शिकार होकर स्वयं ही नष्ट हो जाता है।
* जिस लक्ष्य को तुम पाना चाहते हो, उसी के पीछे इतने व्यस्त रहो कि जिसे तुम नहीं चाहते, उससे भय खाने का अवकाश ही न रहे।
* आशा और भय कभी अच्छे सहयात्री नहीं होते।
* जब आशा मर जाती है, तब अवसर उसकी शवयात्रा में शायद ही शामिल नहीं होता।

जीने की कला (१७)
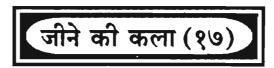
स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

मातृत्व का सर्वोच्च आदर्श

कोई भी आदर्श हो या परिकल्पना, यदि वह किसी व्यक्ति के जीवन में साकार रूप में प्रकट नहीं होता, तो वह आदर्श एक शुष्क सिद्धान्त मात्र बनकर रह जाता है। दैनन्दिन जीवन में उसे रूपायित करने के लिए लोगों को प्रेरणा या मार्गदर्शन नहीं मिल सकता। श्रीरामकृष्ण देव ने ईश्वर के मातृभाव को प्रदर्शित करने के लिए मातृत्व की एक सजीव मूर्ति को गढ़ा, जो सभी के 'माँ' सम्बोधन का उत्तर देती थीं, जिनका आशीर्वाद तथा आश्वासन मनुष्य को संसार की सभी बेड़ियों से मुक्त कर देता और दिव्यता प्राप्ति हेतु उनकी मदद करता। उनका खुद का जीवन भी आदर्श मातृत्व का एक सन्देश था। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने हम सबको यह दिखाया कि ईश्वर हमारे सगे-स्वजन हैं और हम प्रेम और स्नेहभाव के द्वारा उनके पास पहुँच सकते हैं। उन्होंने दिखा दिया कि इस भाव के सहारे कम-से-कम कुछ लोग तो नि:स्वार्थ प्रेम के शिखर पर पहुँच ही सकते हैं। उन्होंने दूसरों को इस पथ पर चलने हेतु प्रेरित किया। उन्होंने बताया कि माँ के नि:स्वार्थ प्रेम के आदर्श के द्वारा स्त्रियाँ कैसे परिपूर्णता एवं धन्यता प्राप्त कर सकती हैं।

करुणा की सागर

जाति, वर्ण, कुल या समुदाय का भेद भुलाकर असंख्य नर-नारी उन्हें 'माँ' कहते थे। जैसे कोई बच्चा माँ की गोद का दुलार चाहता है, वैसे ही भक्तगण उनके पास जाकर उनके सान्निध्य में अपनी सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाते थे। उनके मार्गदर्शन से भक्तों को कृतार्थता का अनुभव होता था। माँ भी अपनी सन्तानों के कल्याण हेतु दिन-रात प्रार्थना करती थीं। अपार धैर्य के साथ वे अपनी सन्तानों की सैकड़ों भूलों को क्षमा करके उन्हें सत्पथ पर चलने का उपदेश देती थीं। दिनों, महीनों और यहाँ तक कि वर्षों तक वे अपना सुख-आराम छोड़कर अपनी सन्तानों के भोजन और आध्यात्मिक हित में लगी रहीं। भक्तगण दूर दूर से आते थे। वे इन लोगों के कारण होनेवाली असुविधाओं को धैर्यपूर्वक सहते हुए उनकी आकांक्षाओं को पूर्ण करतीं। करुणा से विचलित होकर घोर व्याधि से पीड़ित किसी की बीमारी को वे योगशक्ति से अपने ऊपर ले लेती थीं। इससे उन्हें कष्ट तो बहुत होता था, परन्तु अपनी दुखी भक्त-सन्तानों को वे राहत पहुँचाए बिना नहीं रह पातीं। इस प्रकार वे भक्तों की श्रद्धायुक्त स्नेह की भाजन बन गयीं। उन्होंने अपनी भक्त-सन्तानों को त्याग, सेवा तथा धैर्य की शिक्षा दी। जीवन के झंझटों तथा प्रपंचों से दुखी और असहाय भक्तों को उन्होंने मन्त्रदीक्षा, जप-ध्यान और प्रार्थना का उपदेश देकर, उन्हें आध्यात्मिक सम्बल प्रदान किया। वे अपनी दिव्यता को छिपाए रखकर भक्तों की वास्तविक माता के सदृश ही प्रतीत होती थीं। सतत सेवा का जीवन बिताते हुए भी वे सर्वदा प्रसन्नचित्त तथा आनन्दित रहती थीं।

आध्यात्मिक सिद्धि के लिए इस शिखर पर वे धीरे धीरे ही पहुँची थीं। वे सेवा तथा बलिदान के आदर्श को समर्पित एक कर्तव्यनिष्ठ पुत्री थीं, एक पतिपरायणा पत्नी थीं, अपने असंख्य भक्त-सन्तानों की स्नेहमयी माँ थीं, मानवता को अध्यात्मपथ पर ले जानेवाले धर्मसंघ की गुरु थीं और सर्वोपरि दिव्य-प्रेम का साकार विग्रह थीं। बालिका के रूप में उन्होंने कभी अपना समय बर्बाद न करके माता-पिता के कार्य में सहायता करते हुए उनका भार हल्का किया। पिता की मृत्यु के बाद वे स्वयं धान कूटती थीं। अपनी वृद्ध माँ और चाचा की देखभाल वे स्वयं करती थीं। उन्होंने अपने छोटे भाइयों को लाड़-प्यार दिया, पालन-पोषण करके उन्हें आत्मनिर्भर बनाया। एक भाई का कम आयु में ही देहान्त हो जाने पर उन्होंने उसकी पत्नी तथा बच्चों को आश्रय प्रदान किया। अन्य भाइयों के बीच विवाद उत्पन्न होने पर वे उनके बीच मेल-मिलाप का प्रयास करतीं। अनेक लोग मजबूरी के कारण ही घरेलू कार्य करते हैं, परन्तु ऐसे अधिकांश लोग तत्क्षण अपने कार्य को डींग हाँकते हैं या फिर अपने दुर्भाग्य का रोना रोने लगते हैं। लेकिन माँ ने सबके प्रति अपने अदम्य स्नेह के कारण ही लोगों की सेवा की और उन्होंने कभी इसका डींग नहीं हाँका। पति के प्रति उनकी निष्ठा तथा पत्नी के रूप में उनके आदर्श-जीवन की कोई मिसाल नहीं है। मानवता के समूचे इतिहास में विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम पर आधारित ऐसे दिव्य दाम्पत्य प्रेम का दृष्टान्त अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। यह आदर्श कभी भी धूमिल नहीं पड़ा। कौन थीं ये जगन्माता? – श्री सारदा देवी। भगिनी निवेदिता ने उनका सूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद लिखा था, "माँ एक ऐसे आकुल प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं, जो कभी हमें अस्वीकार नहीं कर सकतीं, जो मानो सदा-सर्वदा हमारे साथ रहनेवाली शुभाशीष हैं। वे एक ऐसी व्यक्तित्व हैं, जिनसे हम कभी दूर नहीं जा सकते। वे एक हृदय हैं, जिसमें हम सभी सुरक्षित हैं; वे असीम मधुरिमा हैं, कभी न टूटनेवाला बन्धन हैं। वे छायारहित पवित्रता हैं। वस्तुत: वे इन सबके अलावा भी कुछ हैं।"

यह सच है कि सामान्यतया पिता की तुलना में माता को बहुत कम प्रसिद्धि मिलती हैं। परन्तु क्या यह भी सच नहीं कि पिता की कीर्ति और सन्तानों की प्रगति के पीछे माँ की असीम प्रेमराशि, स्नेह, बलिदान, सेवा और सहनशीलता निहित रहती है। वे विनीत और संकोची बनकर लोकदृष्टि से छिपी रहती हैं। माता की सेवा और त्याग का मूल्य अपरिमित होता है। यदि बच्चे इस नि:स्वार्थ दिव्य प्रेम का कणमात्र भी प्राप्त कर लें, तो इससे उनका बड़ा हित होगा। उनका पूरा जीवन ही कृतार्थ हो जाएगा। उनका व्यक्तित्व उत्तम चरित्रों के रूप में विकसित तथा पुष्पित होगा।

माँ सारदा की करुणा अपार और पूर्णतया नि:स्वार्थ थी। वे प्राय: कहती थीं, "जिसमें दया नहीं, वह भी क्या आदमी कहलाने-योग्य है?" अधोलिखित घटना उनकी करुणा तथा स्नेह का एक सजीव चित्र प्रस्तुत करती है।

कोलकाता की एक बालिका अपने घरवालों को बड़ा कष्ट देती थी और घरवालों को उसका ध्यान रखना पड़ता था। वह अपनी माँ के साथ श्री सारदा देवी के पास आया करती थी। माँ के कक्ष में प्रविष्ट होते ही वह उनसे लिपट जाती। माँ हमेशा ही उसे खाने को ढेर-सारी मिठाइयाँ देतीं।

एक बार माँ वहाँ से अपने गाँव जयरामवाटी जा रही थीं। उन्होंने उस बालिका से कहा – "बेटी, तुम बहुत दिनों से मेरे पास आती रही हो। क्या तुम मुझे प्रेम करती हो?"

बालिका ने उत्तर दिया – "हाँ, मैं आपको बहुत प्यार करती हूँ।"

माँ ने पूछा – "कितना?"

बालिका ने अपनी भुजाओं को यथासम्भव फैलाकर कहा – "इतना।"

माँ ने पूछा – "क्या मेरे जयरामवाटी में रहने पर भी तुम मुझे प्यार करोगी?"

बालिका ने उत्तर दिया – "हाँ, मैं आपको तब भी उतना ही प्यार करूँगी। मैं आपको नहीं भूलूँगी।"

माँ ने पूछा – "मैं इसे कैसे जान पाऊँगी?"

बालिका ने कहा – "आपको यह समझाने के लिए मुझे क्या करना चाहिए?"

माँ ने कहा – "यदि तुम घर में सबसे प्रेम कर सको, तो मैं अपने प्रति तुम्हारे प्रेम के बारे में निश्चिन्त हो जाऊँगी।"

बालिका ने कहा – "ठीक है, मैं घर में सभी लोगों से प्रेम करूँगी। अब मैं अपनी शैतानी भी छोड़ दूँगी।"

माँ ने पूछा – "यह तो ठीक है। परन्तु मुझे यह कैसे पता चलेगा कि तुम सबको समान भाव से प्रेम कर रही हो, किसी को कम या किसी को अधिक नहीं?"

बालिका ने पूछा – "सबको समान रूप से प्यार करने हेतु मुझे क्या करना चाहिए?"

माँ ने कहा – "सबको समान रूप से प्यार करने की विधि मैं तुम्हें बताती हूँ। प्रेम किए जानेवालों से कुछ माँग मत करो। यदि तुम कुछ माँगोगी, तो कोई कम देगा और कोई अधिक। तब फिर अधिक देनेवाले से तुम अधिक प्रेम करोगी और कम देनेवाले से कम। इस प्रकार तुम्हारा प्रेम सबके लिए एक समान नहीं रह जाएगा। तुम सभी को निष्पक्ष भाव से प्रेम नहीं कर सकोगी।"

बालिका ने बिना किसी प्रतिदान की आशा रखे, सबसे प्रेम करने की प्रतिज्ञा की। वस्तुत: इसके बाद पता चला कि घर में उसका व्यवहार आदर्श-स्वरूप हो गया। यह घटना सबको समान और निष्पक्ष भाव से प्यार करने की कला सिखाती है।

माँ श्री सारदा देवी का प्रेम नि:स्वार्थ था। वे कोई प्रतिदान नहीं चाहती थीं। उनका प्रेम सज्जन और दुर्जन – सबके प्रति समान रूप से व्यक्त होता था। एक बार उन्होंने कहा था कि वे पशुओं, पक्षियों और कीट-पतंगों की भी माँ हैं।

प्रेम ही परम आनन्द है

आत्म-नियंत्रण तथा संयम का जीवन बिताते हुए ही व्यक्ति वासनाओं के जाल से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व के उच्चतर सोपानों पर पहुँच सकता है। केवल तभी चारित्रिक-उन्नयन एवं सामाजिक-कल्याण एक वास्तविकता बन पाता है। किसी दम्पति के वृद्ध हो जाने पर दैहिक आकर्षण या वासनाएँ नहीं, अपितु तब तक उनके बीच विकसित प्रेम ही उन्हें जोड़े रखता है। अब उनका प्रेम भावनात्मक उत्तेजनाओं के प्राबल्य से जरा भी कलुषित नहीं होता। अब उनमें क्रोध, घृणा और अवज्ञा का भाव प्रबल नहीं रहता, अपितु उनके जीवन में शान्ति और सन्तोष आ जाता है। प्रेम की प्रेरणा से पत्नी अब सजग भाव से सेवा करेगी। ऐसी पत्नी और माता में कोई भेद नहीं। यदि हम आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों को अपना लें, तो स्वाभाविक जीवन-चर्या के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है, उन्हें प्रयासपूर्वक विकसित किया जा सकता है। पति-पत्नी के बीच केवल आध्यात्मिक सम्बन्ध ही पारिवारिक जीवन में सुख और शान्ति ला सकता है। दूसरे शब्दों में, पति-पत्नी – दोनों के ही आध्यात्मिक जीवन बिताने पर उनके बीच पूर्ण समझदारी, आपसी प्रेम और आदर-भाव कायम होगा। केवल इसी उपाय से शान्ति एवं सामंजस्यपूर्वक रहना सम्भव है। अन्यथा पति-पत्नी परस्पर दोषारोपण में ही लगे रहेंगे और उन्हें नित्य कलह की कटुता का सामना करना होगा।

एक प्रचलित कहावत है – 'प्रेम अन्धा होता है'। इसका अर्थ यह है कि प्रेम कोई अन्तर या भेद नहीं रखता। पर कभी कभी लोग वासना को ही प्रेम समझकर, अपना विवेक खो

बैठते हैं और आँखें मूँदकर दैहिक प्रेम को ही महिमा-मण्डित करते हुए समस्त नैतिक प्रतिबन्धों तथा मर्यादाओं की उपेक्षा करने लगते हैं। नवविवाहित दम्पत्ति के बीच सच्चे प्रेम की अपेक्षा विषय-वासना अधिक हो सकती है, परन्तु अध्यात्म-पथ की ओर उन्मुख होकर इस वासना का क्रमश: उदात्तीकरण करते हुए इसे क्रमश: सच्चे प्रेम में परिणत किया जा सकता है। पति को ईश्वर के प्रति निष्ठा, भक्ति और शरणागति के भाव का आश्रय लेकर धर्मसाधना करनी चाहिए। पत्नी के लिए पति ही ईश्वर बन जाता है और पति की सेवा ही उसकी साधना बन जाती है। जीवन में उसका उद्देश्य रेलगाड़ी के डिब्बों द्वारा उसके इंजन का अनुगमन करने के समान अपने पति के पदचिह्नों का अनुसरण करना है। पत्नी सच्चे अर्थों में अपने पति की अर्धांगिनी बनकर, उसके लक्ष्य में सहगामिनी बनकर सुख-दुखों में उसका हाथ बँटाती है। वह सहिष्णुता व धैर्य की खान और स्नेह-प्रेम की जीवन्त मूर्ति बनकर अपने घरेलू कर्तव्यों को ईश्वर की उपासना मानती है। वह सेवा और त्याग में ही आनन्द पाती है। इन सद्गुणों का विकास होने पर दैहिक वासनाएँ क्रमश: मिटती जाती है। प्रेम के परिपक्व हो जाने पर वह अपार आनन्द का अनुभव करती है।

आधुनिकता की तड़क-भड़क

आज की शिक्षा-प्रणाली में महान् व्यक्तियों तथा सत्पुरुषों के आदर्श जीवन के प्रति बच्चों को आकर्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। जीवन के आदर्शों के बारे में फैला हुआ अज्ञान ही इसका कारण प्रतीत होता है। युवकों के सम्मुख जीवन के ऐसे मूलभूत आदर्शों को कौन प्रस्तुत करेगा, जो जल और वायु के समान नितान्त आवश्यक हैं और जो सुख, शान्ति और सन्तुष्टि देने में सक्षम हैं? इस शिक्षा में एक ओर तो परीक्षा उत्तीर्ण कराने के लिए बच्चों के मस्तिष्क में असंख्य जानकारियाँ ठूँसी जाती हैं तथा विज्ञान का अति महिमा-मण्डन किया जाता है। दूसरी ओर संचार-माध्यमों में सस्ती भावुकता, यौन-उत्तेजना, चोरी, डकैती तथा हिंसा की अतिरंजित प्रस्तुति बच्चों के भोले-भाले और अति संवेदनशील मन को पथभ्रष्ट करती प्रतीत होती हैं। यहाँ तक कि शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत लोग भी इसी समस्या के बारे में अधिक चिन्तित नहीं दिखते। तथाकथित बुद्धिजीवी-गण प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष तौर पर किशोरों तथा युवकों के मनों को यह सुझाव देते प्रतीत होते हैं कि मानवीय दुर्बलताएँ स्वाभाविक हैं और किसी आदर्श के लिए तत्पर रहकर संघर्ष करना एक तरह की मूर्खता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण और बुद्धिवाद के नाम पर समाज में स्वेच्छाचारिता, भोग-परायणता और असंयम का प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों प्रकार से व्यापक प्रचार-प्रसार होता है। एक मंत्री ने एक बार सार्वजनिक सभा में कहा कि एक हद तक रैगिंग भी हानिकारक नहीं है और युवकों ने पाँच मिनट तक तुमुल करतल-ध्वनि के साथ अपनी प्रसन्नता व्यक्त की थी।

पाश्चात्य देशों में दिखनेवाली स्वच्छन्दता की भावना ने भारतीय युवकों के अति संवेदनशील मनों को प्रभावित कर दिया है। परन्तु पाश्चात्य लोगों की देशभक्ति, उद्यमशीलता, कर्तव्य-निष्ठा और कठोर परिश्रम में लगन को अपनाने की जगह भारतीय युवक उनका अन्धानुकरण करते हुए उनके दोषों-दुर्बलताओं को ही ग्रहण करते हैं। १९६४ ई. में भारत की यात्रा पर आए लन्दन विश्वविद्यालय के प्रख्यात इतिहासज्ञ प्रो. ए. एल. बाशम ने प्रेस से एक साक्षात्कार में कहा था, "पाश्चात्य जगत् के चित्रपट, साहित्य, नृत्य और संगीत ने भारतीय युवकों को मंत्रमुग्ध कर लिया है और वे भी यूरोपीय युवकों को मिली स्वच्छन्दता को पाने की आशा करते हैं। यह स्वच्छन्दता यूरोपीय युवकों को सच्चा सुख नहीं दे सकी है। परन्तु भारतीय युवक इस प्रकार की स्वच्छन्दता से सुख प्राप्त करने की आशा रखते हैं। हो सकता है कि दो-एक पीढ़ी में वे सचमुच ही इस स्वच्छन्दता को पा लें। पुरुषों और महिलाओं के बीच मेल-मिलाप पर प्रतिबन्ध और पारम्परिक विवाह-प्रथा ने भारतीय परिवारों को स्थायित्व प्रदान किया है। परन्तु पाश्चात्य देशों की स्वच्छन्दता पतित होकर स्वेच्छाचारिता में परिणत होती जा रही है। परिवार टूटते जा रहे हैं। बच्चे प्राय: घर से अलग-थलग होकर अनाथालयों में पलते हैं।"

यदि भारतवासी भी पाश्चात्य देशों में पारिवारिक जीवन का नाश करनेवाले काम-वासनाजन्य स्वेच्छाचार को अपना लें, तो इसके द्वारा अपने देश को होनेवाली क्षति का हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। पाश्चात्य लोगों को धीरे धीरे अपनी मूर्खता का एहसास हो रहा है। यह कैसी विडम्बना है कि हमारे युवक अपनी ही संस्कृति की उपेक्षा करके पाश्चात्य देशों की नकल करने के प्रयास में लगे हुए हैं!

❖ (क्रमशः) ❖

हितोपदेश की कथाएँ (७)

('सुहृद्-भेद' अर्थात् 'मित्रों में फूट' नामक अध्याय से पिछले अंक में आपने पढ़ा – दक्षिण देश का वर्धमान नाम का वणिक् अपने नन्दक तथा संजीवक नामक बैलों को गाड़ी में जोतकर काश्मीर की ओर जाने के लिए निकला, संजीवक बैल का पाँव टुट जाने से उसने उसे बीच रास्ते में ही जंगल के पास छोड़ दिया। जंगल में पड़ा हुआ घायल संजीवक धीरे धीरे स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हो उठा। उस जंगल का राजा पिगलक नामक सिंह एक दिन यमुना तट पर प्यास बुझाने गया और वहाँ बैल संजीवक की दहाड़ सुनकर भय के कारण उल्टे पाँव लौट आया। उसके सियार-मंत्री के पुत्रों – करटक और दमनक ने उसे इस प्रकार चुपचाप चिन्तामग्न बैठे हुए देखा। दोनों भाई मिलकर विचार करने लगे कि राजा के भय का क्या कारण हो सकता है! आखिरकार दमनक अपनी जिज्ञासा के निवारणार्थ राजा पिंगलक के पास जा पहुँचा। – सं.)

राजा पिंगलक ने दूर से ही दमनक को देखकर अपने पास बुलाया। वह भी साष्टांग प्रणाम करके बैठ गया। राजा बोला – "बहुत दिनों बाद दिखाई दिये?"

दमनक ने कहा – "यद्यपि स्वामी को हम जैसे अकिंचन सेवक की जरूरत नहीं है। परन्तु सेवक का कर्तव्य है कि वह मौका पड़ने पर अपने प्रभु के पास अवश्य जाय। क्योंकि – 'हे राजन्! दाँत खोदने या कान खुजलाने के लिए राजाओं को तिनके की भी जरूरत पड़ती है, तो फिर हाथ पैर आदि अंग तथा वाणी युक्त मनुष्य का तो कहना ही क्या! उसकी उपयोगिता तो है ही।' यद्यपि श्रीमान ने मुझे बहुत दिनों से उपेक्षित रखा है, जिससे आपको शंका हो सकती है कि मेरी बुद्धि नष्ट हो गई होगी, किन्तु श्रीमान का ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्योंकि – 'धैर्यशाली मनुष्य का अपमान होने पर उसकी बुद्धि नष्ट हो जाएगी, ऐसी शंका नहीं होनी चाहिए। आग को चाहे जितना भी नीचे किया जाय, उसकी लपट ऊपर की ओर ही उठती है।' अत: हे राजन्! स्वामी को विवेकी होना चाहिए। क्योंकि –

मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते।
यथैवास्ते तथैवास्तां काचः काचो मणिर्मणिः ॥

– 'चाहे मणि को पैरों के नीचे डाल दिया जाय और काँच को सिर पर धारण कर लिया जाय; फिर भी जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। काँच काँच ही रहेगा और मणि मणि ही रहेगी।'

"और 'जब राजा किसी की विशेषता पर ध्यान न देकर सबको समान भाव से देखता है, तो उद्यम करने में समर्थ लोगों का उत्साह नष्ट हो जाता है।' फिर –

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥

– 'हे राजन्! संसार में तीन तरह के मनुष्य हैं – उत्तम, मध्यम व अधम। इन तीनों तरह के लोगों को उत्तम, मध्यम व अधम – तीन प्रकार के कामों में नियुक्त करना चाहिए।' क्योंकि –

स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
नहि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥

– 'भृत्य और आभूषण उचित स्थानों पर ही धारण करने पर भले लगते हैं। कोई चूड़ामणि को पैर में और नुपूर को मस्तक पर नहीं धारण करता।'

और 'सोने के गहने में जड़ा जाने योग्य रत्न यदि रांगे के गहने में जड़ दी जाय, तो भी वह शोभती ही है, परन्तु इससे उस रत्न को जड़नेवाले की ही निन्दा होती है।' फिर –'यदि कोई मुकुट में काँच और पैर के आभूषण में मणि जड़वा ले, तो इसमें मणि का कोई दोष नहीं। बल्कि इससे ऐसा करनेवाले साहूकार की ही नासमझी प्रकट होती है।'

देखिए 'यह सेवक बुद्धिमान है, यह मेरा अनुरागी है, यह वीर है, इससे मुझे भय है – सेवकों के बारे में ऐसी जानकारी रखनेवाला राजा उन सेवकों से भरा-पूरा रहता है।' कहा है –

अश्वः शस्त्रं, शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥

– 'घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वाणी, पुरुष तथा स्त्री – ये योग्य या अयोग्य व्यक्ति के हाथ में योग्य या अयोग्य सिद्ध होते हैं।'

फिर – 'अनुरागी, मगर असमर्थ सेवक से क्या लाभ? बलवान, परन्तु बुरा चाहनेवाले सेवक से क्या मतलब? अत: मुझ अनुरागी तथा बलवान सेवक का आप अनादर न करें।'

क्योंकि – 'राजा से अपमानित होकर सेवक की बुद्धि नष्ट हो जाती है। फिर उसका उदाहरण देख बुद्धिमान लोग राजा के पास नहीं जाते। जिस राजा के राज्य से बुद्धिमान चले जाते हैं, उनकी नीति गुणवती नहीं होती और नीति दूषित हो जाने से सब कुछ अनियमित होकर दुख का कारण बनता है।'

और 'राजा जिस व्यक्ति का सम्मान करता है, प्रजा भी उसका आदर करती है और जो राजा से अपमानित होता है, उसका सभी लोग अनादर करते हैं।' और –

बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ॥

– 'समझदार लोगों को चाहिए कि वे बच्चे के मुख से भी निकली हुई उचित बात को ग्रहण करें, क्योंकि सूर्य के अभाव में क्या दीपक का प्रकाश काम नहीं देता?' "

राजा पिंगलक ने कहा – "मित्र दमनक! कैसी बात कहते हो? तुम हमारे प्रधानमंत्री के पुत्र हो। न जाने किस दुष्ट की बात में पड़कर इतने दिनों तक तुम मेरे पास नहीं आए। अब तुम अपनी बात कहो।"

दमनक ने कहा – "प्रभो, आपसे कुछ पूछता हूँ। बताइए,

आप पानी पीने गए थे, मगर प्यासे ही लौटकर विस्मित भाव से क्यों बैठे हैं?''

पिंगलक बोला – ''तुमने ठीक ही कहा। परन्तु इस रहस्य को बताने के लिए कोई विश्वासयोग्य पात्र नहीं दीखता। तो भी मैं चुपके से यह बात कहता हूँ। सुनो, अब इस वन में कोई अपूर्व जीव आ गया है, इसलिए मुझे यह स्थान त्यागना होगा। यही कारण है कि मैं कुछ विस्मित होकर बैठा हूँ। मैंने उसकी भयंकर आवाज सुनी है। उसकी आवाज से तो यही प्रतीत होता है कि वह कोई बड़ा बलवान जीव है।''

दमनक बोला – देव! यह तो सचमुच ही बड़े भय की बात है। वह आवाज हमने भी सुनी है। परन्तु वह मंत्री कैसा, जो पहले भाग खड़े होने और बाद में युद्ध करने की सलाह दे! इस संशयपूर्ण कार्य में सेवकों का उपयोग करके देखना ही उचित होगा। क्योंकि –

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम्॥

– 'भाई, स्त्री, सेवकगण, बुद्धि तथा आत्मबल – विपत्ति-रूपी कसौटी से ही इनकी सच्चाई का पता लग सकता है।' ''

सिंह पिंगलक ने कहा – ''मुझे तो बड़ा भय लगता है।''

दमनक ने मन-ही-मन सोचा – ''यदि ऐसा न होता, तो इस राज्य-सुख को छोड़कर भागने की बात क्यों कहते?' और प्रकट में बोला – ''स्वामिन्! जब तक मैं जीवित हूँ, आपको डरने की जरूरत नहीं, पर आप करटक आदि को भी आश्वासन दे दीजिए, क्योंकि विपत्ति का सामना करते समय लोगों को सहसा एकत्र करना बड़ा कठिन होता है।''

इसके बाद राजा पिंगलक ने दमनक तथा करटक – दोनों का भलीभाँति सत्कार किया और दोनों भय का निराकरण करने की प्रतिज्ञा करके लौट पड़े। चलते चलते करटक ने दमनक से कहा – ''मित्र! यह जाने बिना ही कि भय का कारण दूर होने लायक है या नहीं – तुमने उसे दूर करने की प्रतिज्ञा करके राजा से इतना बड़ा पुरस्कार कैसे ले लिया? क्योंकि बिना उपकार किए किसी से और विशेष करके राजा से पुरस्कार नहीं ग्रहण करना चाहिए। देखो –

यस्य प्रसादे पद्माऽस्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥

– 'राजा की प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोध में मृत्यु विराजमान है, इसीलिए उसे सर्वतेजोमय कहा गया है।'

और – 'मनुष्य समझकर बालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो मनुष्य रूप से पृथ्वी पर निवास करनेवाला एक महान् देवता है।

दमनक ने कहा – ''मित्र! चुप रहो। मैंने भय का कारण समझ लिया है। वह बैल की गर्जना है। और बैल तो हम लोगों का भोजन ही है, फिर सिंह के लिए क्या कहना।''

करटक ने कहा – ''यदि ऐसा था तो तुमने उसी समय स्वामी का भय क्यों नहीं दूर किया?''

दमनक बोला – ''यदि उसी समय स्वामी का भय दूर कर देता, तो यह पुरस्कार कैसे मिलता।'' और भी –

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत्॥

– 'सेवकों को चाहिए कि कभी भी स्वामी को अपने प्रति उदासीन न होने दें। स्वामी को स्वयं से उदासीन कर देने से सेवकों की वही दशा होती है, जो दधिकर्ण की हुई थी।'

करटक ने पूछा – ''यह कैसे?'' दमनक कहने लगा –

कथा १०

भारतवर्ष के उत्तरी प्रदेश के अर्बुद नामक पर्वत-शिखर पर दुर्दान्त नाम का एक बड़ा बलवान सिंह रहता था। अपनी कन्दरा में सो जाने पर कोई चूहा आकर रोज उसके अयाल के बालों को कुतर जाया करता था। उसकी नींद खुलने के पहले ही चूहा दौड़कर वहीं बिल में छिप जाता। इस प्रकार प्रतिदिन अपने बालों को कुतरा हुआ देखकर सिंह को बड़ा क्रोध आया। चूहे को पकड़ने में असमर्थ होकर सिंह ने सोचा – ''छोटे शत्रु को बल से नहीं पकड़ा जा सकता। उसे मारने के लिए तो उसी के समान सैनिक को आगे कर देना चाहिए।''

ऐसा विचार करने के बाद वह पास के गाँव में गया और दधिकर्ण नाम के बिल्ले को प्रतिदिन भोजन देने का वचन देकर बड़े प्रयत्न से अपनी कन्दरा में ले आया। अब बिल्ले के भय से चूहा बिल से बाहर नहीं निकलता था। इस कारण सिंह भी अपना बाल काटे जाने की आशंका से बचकर सुख की निद्रा सोने लगा। उसे जब जब चूहे की आवाज सुनाई देती, तब तब वह बिल्ले को खिला-पिलाकर सन्तुष्ट करता।

इस प्रकार मुफ्त का माल उड़ाते हुए बिल्ले के दिन बड़े सुखपूर्वक बीतने लगे। कुछ काल बाद एक दिन वह चूहा अपने बिल से बाहर निकलकर घूम-फिर रहा था और बिल्ले के हाथ में पड़ गया। बिल्ले ने बिना कुछ सोचे-समझे उसका काम तमाम कर दिया।

इसके बाद जब कुछ दिनों तक सिंह को न तो चूहा दिखाई देता और न उसकी आवाज ही सुनाई देती। तब सिंह के लिए बिल्ले की कोई उपयोगिता नहीं रह गई और वह उसे भोजन आदि देने में ढिलाई करने लगा। इसके बाद वह दधिकर्ण नामक बिल्ला भोजन के अभाव में कुछ ही दिनों में चल बसा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि – 'स्वामी को अपने प्रति उदासीन न होने दे' आदि।

इसके बाद दमनक तथा करटक संजीवक के पास गए। करटक एक पेड़ के नीचे बड़े रोब-दाब के साथ बैठ गया। और दमनक ने संजीवक के पास जाकर कहा – "अरे बैल ! मुझे राजा पिंगलक ने इस वन की रखवाली करने को नियुक्त किया है। मेरे सेनापति करटक का हुक्म है कि तुरन्त उनके पास चलो और नहीं तो यह जंगल छोड़कर दूर चले जाओ, अन्यथा तुम्हारा बुरा हाल होगा। गुस्से में हमारे स्वामी न जाने क्या कर बैठें।" यह सुनकर संजीवक आ गया। क्योंकि 'राजा की अवज्ञा मानो बिना हथियार के वध करना है।'

तदुपरान्त देश-काल के व्यवहार से अनजान संजीवक ने डरते हुए करटक के पास जाकर उसे साष्टांग प्रणाम किया। कहा भी है – "महावत द्वारा हाथी की पीठ पर रखे हुए नगाड़े को बजाने पर नगाड़ा मानो कहता है कि **बल से बुद्धि बड़ी है**। बुद्धि के न होने से ही हाथियों में इतना बल रहते हुए भी वे दुर्बल मनुष्य-जाति की ऐसी गुलामी करते हैं।"

संजीवक ने सशंक भाव से कहा – "सेनापति ! बताइए कि मुझे क्या करना चाहिए।"

करटक बोला – "ओ बैल ! यदि तू इस जंगल में रहना चाहता है, तो चल, हमारे राजा को प्रणाम कर।"

संजीवक ने कहा – "आप हमें अभय-दान दीजिए, तो मैं चलूँ।"

करटक बोला – "बैल ! तू ऐसी शंका न कर, क्योंकि –

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ।।

– 'निरन्तर गाली दे रहे शिशुपाल को भगवान श्रीकृष्ण ने कोई भी उत्तर नहीं दिया था। क्योंकि सिंह मेघ का गर्जन सुनकर ही दहाड़ता है, सियारों की आवाज सुनकर नहीं।' और –

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम् ।।

– 'वायु नम्र और झुकी रहनेवाली घासों को नहीं, बल्कि सिर उठानेवाले बड़े बड़े वृक्षों को ही उखाड़ फेंकता है, बड़े लोग बड़ों पर ही अपना पुरुषार्थ प्रकट करते हैं।'

इसके बाद वे दोनों संजीवक को साथ ले गए। फिर संजीवक को कुछ दूर बिठाकर दोनों पिंगलक के पास गए।

राजा ने इनको बड़े आदर के साथ देखा और ये दोनों भी प्रणाम करके बैठ गए। राजा ने कहा – "तुमने उसे देखा?"

दमनक बोला – "देखा है, प्रभो। और आपने जैसा सोचा था, वह सचमुच वैसा ही बली है। वह आपके दर्शन करना चाहता है। इसलिए आप तैयार होकर बैठ जाइये और देखिए, कहीं उसकी आवाज से ही न डर जाइयेगा। कहा भी है –

शब्दमात्रान्न भेतव्यम् अज्ञात्वा शब्दकारणम् ।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता ।।

– 'आवाज का कारण जाने बिना, उसे सुनते ही डर नहीं जाना चाहिए। आवाज का कारण समझकर एक कूटनी सबके आदर का पात्र बन गई थी।' "

राजा ने पूछा – "यह कैसे?" दमनक कहने लगा –

कथा ११

श्रीपर्वत के मध्य भाग में ब्रह्मपुर नाम का एक नगर है। लोगों से सुनने में आता था कि उस पर्वत की चोटी पर घण्टाकर्ण नामक एक राक्षस रहता है। एक बार घण्टा लेकर भागे हुए किसी चोर को बाघ ने मार डाला। उसके हाथ से गिरा घण्टा बन्दरों को मिल गया। बन्दरों को एक नया खेल मिल गया। वे उस घण्टे को हमेशा बजाते रहते थे। जब नगरवासियों ने उस चोर मनुष्य को खाया हुआ देखा और हमेशा आनेवाली घण्टे की आवाज सुनी, तो वहाँ अफवाह फैल गया – 'घण्टाकर्ण राक्षस क्रुद्ध होकर मनुष्यों को खाता और घण्टा बजाता है।' यह सुनकर वहाँ के सभी निवासी धीरे धीरे नगर छोड़कर भागने लगे।

तब कराला नाम की एक कूटनी ने अपने मन में विचार किया कि इस असमय बजनेवाले घण्टे में जरूर कोई-न-कोई रहस्य है। अन्त में खोज करने पर उसे पता लगा कि बन्दर ही घण्टा बजाया करते हैं। तब वह वहाँ के राजा के पास पहुँची और बोली – 'प्रभो ! यदि आप कुछ धन खर्च करें, तो मैं इस घण्टाकर्ण को वश में कर सकती हूँ। इस पर राजा ने उसे धन दिलवा दिया।

तब कूटनी ने मण्डल बनाया और गणेश-गौरी आदि की पूजा का आडम्बर रचकर बन्दरों को रुचनेवाले कुछ फल लिए वन में गई और वहाँ फलों को बिखेर दिया। बन्दर इस पर घण्टे को छोड़कर फल खाने लगे और कूटनी घण्टा लेकर नगर लौट आयी। इससे वह पूरे नगर की पूज्य बन बैठी। इसी से मैं कहता हूँ कि 'केवल आवाज सुनकर नहीं डरना चाहिए' आदि।

इसके बाद उसने संजीवक को लाकर पिंगलक से मिलाया। अब संजीवक भी बड़े प्रेम से वहीं रहने लगा।

❖ (क्रमशः) ❖

जड़ता : मानव-दुःख का कारण

भैरवदत्त उपाध्याय

मानव-जीवन में जड़ता का स्थान शून्य है। निरंक है। सर्वाधिक दुःखदायी है। मैं समझता हूँ, **विश्व में सर्वाधिक हानि जड़ता के कारण हुई है**। इसलिए माँ सरस्वती की वन्दना में उन्हें जड़ता को हरनेवाली कहा गया है – **निःशेष-जाड्यापहा** अर्थात् वे बुद्धि की सारी जड़ता का हरण करती हैं। यह उनका स्वभाव है। जिस प्रकार सूर्य का कार्य अन्धकार का विनाश करना है, उसी प्रकार ज्ञान का सूर्य भी प्रकाशित होने पर अज्ञान रूपी अन्धकार के अस्तित्व को मिटाता है। मनुष्य हजारों वर्षों से इसी शत्रु से लड़ रहा है, अन्त तक लड़ेगा। उस पर विजय पाना मनुष्य का सबसे बड़ा पराक्रम है और हार जाना अपमान। यह मुक्ति है। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था कि विद्या वही है; जिसके द्वारा जड़ता से छुटकारा मिले। जड़ता से मुक्ति होने पर जीव को जागतिक प्रपंचों से मुक्ति मिल जाती है। अज्ञान से मुक्ति ही मोक्ष है, परम पुरुषार्थ है। अज्ञान हृदय में अथवा बुद्धि में निवास करता है। परमात्मा की सृष्टि शुद्ध प्रकाशमय है, ज्ञानमय है। बुद्धि का निवास प्रपंचमय तो है, परन्तु सात्त्विक होने के कारण प्रकाशमय है। माया उसका आवरण है। शुद्ध बुद्धि जब प्रपंचमय होती है, तब जड़मयी होने पर उसका रूप स्पष्ट नहीं दीख पड़ता।

यह प्रकृति त्रिगुणमयी है – **त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः**। बुद्धि यूँ तो सत्त्वप्रधान है; परन्तु रजस्-तमस् से सदा मुक्त नहीं होती। इसलिए पूरे आंगन में चन्द्रमा का प्रकाश होने पर भी कोने में अँधेरा होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्ण प्रकाश था और अन्त में पूर्ण प्रकाश रहेगा। मध्यावस्था ही ऐसी है, जिसमें अज्ञान का जन्म होता है। चूँकि सृष्टि का प्रारम्भ मध्यकाल से हुआ है। मोह भी इसी का उत्पाद है। मोह यूथाधिपति है, रावण है; अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, राग, ईर्ष्या आदि सेनापति हैं। यह मोहनिशा है। इसमें सभी जीव सो जाते हैं, परन्तु ज्ञानी जागता रहता है। इसकी उपासना प्रकाश की उपासना है। वह परमात्मा की आराधना करता है। परमात्मा वस्तु है, सत्ता है। अज्ञान अवस्तु है, सत्ताहीन है, ज्ञानविरोधी है।

जाड्य जड़ का भाव है। भावात्मक सत्ता है। जड़ता सत्य का विपर्यय है। सामान्यत: आलस्य, अकर्मण्यता, कर्मशून्यता, निष्क्रियता, संवेदनहीनता आदि से इसका बोध होता है। इसमें कर्म और विचारों की शून्यता अथवा असफल चिन्तन और क्रिया का समावेश है। किंपुरुषता, कापुरुषता, दुराग्रह तथा पूर्वाग्रह का भी समाकलन है। किसी बात की सत्यता होने पर भी अस्वीकार करना तथा अस्वीकृत तथ्य को दुराग्रहपूर्वक स्वीकार करना शामिल है। मानव एवं विश्वहित के विपरीत जो चिन्तन और कर्म होंगे, उसमें जड़ता का आधिपत्य होगा। ऐसे कार्य या चिन्तन सोद्दश्य तथा सर्वजनहिताय नहीं होते।

निष्ठा एवं सद्भावना से जो कार्य होते हैं, वे सार्थक रहते हैं, उनका चिन्तन मंगलमय होता है। यज्ञमय और समाज के हित में होते हैं। उसमें जड़ता, अज्ञता, अबोधता या अल्पज्ञान से अधिक कुछ और भी होता है। उसमें सर्वज्ञता का भाव एवं सर्वश्रेष्ठता का अहंकार भी होता है। उसमें हठ, पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह का समावेश है। अन्य परम्पराओं की दुहाई देकर कठोरता के साथ उनका निर्वहन करना गड्डलिका-प्रवाह है। शास्त्रों के प्रक्षेपित वाक्यांशों का प्रमाण देकर आग्रह करना मूर्खता है। प्रत्यक्ष सत्य को न पहचानना अज्ञता ही है। परन्तु पहचानने पर ही अवस्तु को पकड़े रहना स्पष्ट जड़ता है। स्वार्थ या दुर्भाव से ग्रसित होकर प्रत्यक्ष सत्य को अस्वीकर करना उसी का रूप है। नीम को नीम न कहना हठ है, मूर्खता है। यदि ब्रह्मा भी उसे गुरु-रूप में मिल जायँ, तो उसे बोध नहीं होगा – **ब्रह्माऽपि तं न रंजयति। मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि विरंचि सम**। शठ और मूढ़ में भी अन्तर है। शठ चुस्त, चालाक और निजी स्वार्थ से प्रेरित होता है, वह सत्संगति से सुधर जाता है –

शठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई।।

परन्तु मूढ़ में स्वयं का विवेक नहीं होता, वह दूसरों के इशारों पर चलता है – **मूढः पर-प्रत्ययेन-नेय बुद्धिः** – जड़ अनिर्वचनीय है। संसार इसी जड़ता के परिणामों को भोग रहा है, उससे परेशान है। विश्व-प्रकृति की यातनाओं से त्रस्त कम है, पर 'स्व' और 'पर' की जड़ता के कारण पीड़ाओं से कराह रहा है। इस जड़ता के दुष्परिणामों की कसक ज्यादा है। आश्चर्य यह कि समाज भी इन्हें स्वीकृति देता है।

हिन्दू समाज वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, सती-प्रथा एवं देवदासी-प्रथा, दहेज आदि से पीड़ित है। फिर भी इनका पोषण हो रहा है। मनुष्य हिंसा करता है, जीव का वध करता है। सोचता है – इस कार्य से देव या देवी प्रसन्न होंगे। हिंसा को हिंसा न कहकर 'बलिदान' या 'कुर्बानी' कहता है। जीव को भोज्य बनाने के विषय में कोई मतभेद नहीं है, मतभेद इसमें है कि उसका 'हलाल' हो या 'झटका'। अनेक मान्यताएँ जड़ता पर आधारित है, जिन्हें सामाजिक मान्यताएँ मिली हैं। गैर-विश्वासी मनुष्य को मृत्यु के घाट उतारना परम धार्मिक कार्य है। प्राचीनता की स्मारक मूर्तियों

को तोड़ना, धर्मान्तरित होकर देव-प्रतिमाओं को फेंकना धर्म-शास्त्रों का अनुपालन है, इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पर यह जड़ता और जड़वाद है।

व्यक्तिगत रूप से वह अपनी ही जड़ता से ग्रस्त है। वह अनेक सनकों, आदतों, झखों, मान्यताओं और अन्धविश्वासों से ग्रसित है। परिवार की सीमा में भी अनेक रूढ़ियाँ चल पड़ती हैं। व्यक्ति अपने चारों ओर अहंकार का घेरा डालता है, लक्ष्मण रेखा खींचता है, जब वे टूटती हैं, बाहरी व्यक्ति का उसमें प्रवेश होता है, तब वह द्वन्द्व की स्थिति बन जाती है। जड़ता की विध्वंसक शक्ति का एहसास होता है। प्रजातिवाद, पूँजीवाद, साम्यवाद, साम्राज्यवाद, रंगभेद, नक्सलवाद और आतंकवाद आदि की विद्रुपता इसी जड़ता के कारण हैं।

लोगों की मान्यता है कि धर्म सम्पूर्ण बुराइयों का परिणाम है। इसका जन्म जादू-टोना से हुआ है। अन्धविश्वासों और अन्ध-परम्पराओं से इसे पुष्टि मिलती है, पर यह सच नहीं है। यह लोगों की जड़ता है, जिसने धर्मक्षेत्र में भी अपना पैर फैला दिया है। वास्तविक धर्म का आधार तर्क, युक्ति और प्रमाण है, जो विश्वहित से अनुबन्धित है। सत्य इसकी आत्मा है, जो शिव और सुन्दर है। जो शिव और सुन्दर नहीं है, उसे नकारने पर हानि नहीं है। जड़ता को स्वीकार करना धर्म नहीं मानसिक विकृति है। इसका उपचार किसी कठमुल्ला, पादरी या पण्डा-पुजारी से नहीं होगा, अपितु विवेकशील व्यक्ति ही इसका निदान करेगा। दुराग्रहों से मुक्ति निष्पक्षता और तत्त्व-दर्शिता के द्वारा ही हो सकती है।

जड़ता को समूल नष्ट करने के लिए हमें विवेकयुक्त बुद्धि चाहिए। सद्-असद् का विवेचन करने की शक्ति, क्षमता, धैर्य, निस्पृहणीयता और कुशलता चाहिए। सत्संगति इसका दूसरा आधार है –

बिनु सतसंग बिबेक न होहि।
रामकृपा बिनु सुलभ न तेहि।।
बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु रामपद, होहि न दृढ़ अनुराग।।

सद्ग्रन्थों के पठन, चिन्तन, मनन से भी जड़ता का विनाश होता है। विश्वासों, रूढ़ियों और परम्पराओं की समीपता से, अध्ययन एवं अनुचिन्तन करने से मन के कोने में बैठे अँधेरे से मुक्ति मिलती है। मन, वाणी में सत्य के प्रति आस्था होनी चाहिए। हिमालय की दृढ़ता अपेक्षित है। हमारा गुरु अन्धविश्वासी न हो, सत्य का अन्वेषी हो। वही जड़ता को दूर करेगा। जड़ व्यक्ति हमारी जड़ता को भगा नहीं सकता। जो स्वयं अन्धा है, वह दूसरों को प्रकाश की ओर नहीं ले जा सकता। **अन्धेन नीयमाना यथाऽन्धाः** – वाली उक्ति चरितार्थ नहीं होनी चाहिए। ❑❑❑

एक संन्यासी की भ्रमणगाथा (७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के साथ अपनी भ्रमण-गाथा लिखी थी, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इस अत्यन्त रोचक तथा उपयोगी प्रबन्ध का धारावाहिक प्रकाशित किया जा रहा है । – सं.)

भ्रान्ति के मूल में है अज्ञान

नर्मदा के तट पर होसंगाबाद के उस पार कुछ दूरी पर भोपाल राज्य के संरक्षित वन विभाग (Reserved forest) के अन्त में मर्दानपुर गाँव है। यह भोपाल की तहसील है। पास में ही घोर बृहत् वन-प्रदेश, विन्ध्याचल के शृंखलित पर्वत-शृंगों को घेरे हुए है और क्षीण-सलिला, परन्तु निर्मल नर्मदा, वर्षा को छोड़ बाकी सभी समय शान्त-प्रवाहित रहकर सारे क्षेत्र को माधुर्य से प्लावित करती हैं। जंगल में सभी प्रकार के पशु हैं – तेंदुए, बाघ, शेर आदि हिंस्र-जन्तु भी बहुत हैं। बाहर का कोई जाकर शिकार नहीं कर सकता, गाँववाले भी नहीं; सिर्फ भोपाल नरेश या राज्याधिकारी और उनकी इजाजत से अन्य अधिकारी शिकार कर सकते हैं, अत: जंगल के पास के गाँववाले सदा त्रस्त रहते हैं। पाले हुए पशुओं का प्राय: ही नाश हुआ करता है, असावधान रहने पर आदमी भी मारे जाते हैं। शेर का उपद्रव अक्सर सबको हैरान कर डालता है !

नर्मदा के तट पर कुछ काल तप करने की इच्छा लेकर संन्यासी (१९२० ई. में) काशी से सीधा होसंगाबाद पहुँचा। किसी से जान-पहचान तो थी नहीं, आशा थी कि ईश्वर की कृपा से कोई व्यवस्था हो जाएगी और हुआ भी वैसा ही। (गाड़ी सुबह पहुँची) स्टेशन से नर्मदा घाट जाकर नहा-धोकर बैठकर इष्ट-स्मरण करते हुए सोच रहा था कि ऐसा अनुकूल स्थान कहाँ मिले, जहाँ निश्चिन्त होकर ठहरा जा सके। वहीं दो सज्जन आए और नहा-धोकर पूजा-पाठ में लग गए। बाद में संन्यासी से पूछा – "कब आए?" भिक्षा के लिए निमंत्रण भी दिया। जब सुना कि सुबह ही आया है और एकान्त में रहकर भजन की इच्छा है, तो एक ने कहा – "भोपाल चलिए, वहाँ ताल के पास एक गुफा है, उसमें ठहरिएगा, हम कभी कभी सत्संग के लिए आयेंगे। ठीक है न?" पर संन्यासी ने निवेदन किया कि 'बात तो बड़े सुयोग की है, पर वह नर्मदा तट पर रहने के विचार से इतनी दूर से आया है, अत: इधर ही कहीं रहने की निश्चित व्यवस्था करनी है।' दूसरे सज्जन ने कहा, "नर्मदा तट पर ऐसा एकान्त स्थल मैं बता सकता हूँ, पर वह भयंकर जंगल के बीच है। गाँव से मील भर दूर एक पुराना शिव मन्दिर है, जो अब खण्डहर हो चुका है और भूले-भटके ही कोई उधर जाता है। वहीं चले जाइए?" संन्यासी के प्रसन्न होकर सहमति जताने पर उन्होंने कहा – भिक्षा का प्रबन्ध भी हो जाएगा, निश्चिन्त रहें। जय भगवान! उनकी अपार कृपा का स्मरण करके संन्यासी ने बारम्बार नमन किया।

भोजन आदि एक साथ समाप्त करके शाम की गाड़ी से प्रस्थान किया। नर्मदा-पुल के पार के छोटे-से फ्लैग-स्टेशन पर पुलिस अधिकारी को बुलाकर तहसीलदार मर्दानपुर के नाम एक पत्र दिया, जिसमें संन्यासी के लिए सारी व्यवस्था कर देने का हुक्म था और पुलिस को हुक्म दिया कि स्टेट बैलगाड़ी में मर्दानपुर भेज दो। आप दोनों में एक सज्जन थे – भोपाल की बेगम साहबा के दीवान और दूसरे थे – टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, भोपाल के प्रधानाचार्य मि. तिवारी। प्रधानाचार्य जी बेगम के साहब-जादाओं को पढ़ाते थे यानी उनके ट्यूटर भी थे।

पुलिस अधिकारी ने समझा कि ये संन्यासी असल में कोई सी.आई.डी. (गुप्तचर) है, जो हत्या के मामले में वहाँ जा रहा है। उधर एक हिन्दू जागीरदार का खून हो गया था, पुलिस कुछ निष्क्रिय-सी थी। उसने सोचा कि शायद दीवान साहब तथा मास्टर साहब कोई सी.आई.डी. (गुप्तचर) भेज रहे हैं। संन्यासी ने बहुत कहा कि वैसा कुछ नहीं, वे एक संन्यासी ही हैं, परन्तु पुलिस अधिकारी ने हँसकर कहा – "आप छिपा रहे हैं, परन्तु बाद में मुझे तो बुलाना ही पड़ेगा।"

अस्तु, शाम को एक १७-१८ वर्ष का नौजवान लड़का बैलगाड़ी लेकर आया। बैल तो विशालकाय हाथी जैसे थे – साढ़े तीन हजार की जोड़ी! देखने में खूबसूरत! देखकर संन्यासी खुश तो हुआ, पर स्टेट के उस गाड़ी-चालक जवान को देखकर घबड़ाया। ३०-३२ मील के भयंकर जंगल के बीच से होकर रात में गाड़ी ले जाना है और यह बालक सँभालेगा कैसे? यदि रास्ते में कुछ आफत आ जाय, तो न जाने क्या होगा! प्रभु रक्षा करें! पुलिस अधिकारी ने कहा, "इसके बाप के किसी अन्य कार्य में व्यस्त होने पर, बहुत बार यही ले जाता है, इसलिए आप फिक्र न करें।"

जय भगवान! गाड़ी चल दी। दोनों बैल घोड़ों की तरह पूरी रफ्तार से चलने लगे और सारी रात लगातार दौड़ते ही रहे, रफ्तार में कोई अन्तर नहीं। ... पर हाँ, जाते जाते बीच में अँधेरा हो गया। उसी समय पास ही चर रहीं दो नीलगायें दुर्घटना का कारण बन गईं। उन्हें देखते ही बैल तो ऐसी तेजी से भागे मानो कोई शेर देखा हो। और ऊँचे-नीचे पथरीले वनपथ पर गाड़ी उछलने लगी, फिर एक पेड़ से टकरा गई और गाड़ीवान तथा संन्यासी छिटककर दूर दूर जा गिरे। दैव-कृपा से घास-पत्ते पर जा पड़ने से किसी को चोट नहीं आई।

गाड़ी भी टूटी नहीं। बैल दौड़ते हुए भागे, लड़का भी उनके पीछे दौड़ा। संन्यासी ने शेर की तलाश में इधर-उधर नजर घुमाई, परन्तु सामने शेर नहीं, नीलगाय खड़ी थी।

रास्ते में और कुछ घटना नहीं हुई। शेर तथा अन्य पशुओं की आवाजें खूब आती थीं, गर्जना सुनाई देती थी, पर बैल तो अपनी रफ्तार से ही चलते रहे और गाड़ीवान आराम से नींद लेता रहा। संन्यासी जागते हुए बैठा रहा कि कहीं फिर कोई दुर्घटना हो, शेर यदि कूद पड़े और बैल को मार दे या उस जवान लड़के को उठा ले जाय तो! अपने लिए कोई फिक्र नहीं थी, क्योंकि आगे-पीछे कोई रोनेवाला तो है नहीं और जीवन भी भगवान के भरोसे है। वे जो चाहें, सो करें। अस्तु।

सुबह कोई आठ बजे मर्दानपुर पहुँच गया। तहसीलदार ने पत्र पढ़ा और खातिर के साथ बैठाया। बाद में संन्यासी गाँव के शिव-मन्दिर में जाकर वहीं ठहर गया। भोजन आदि का प्रबन्ध कुछ समय के लिए (बारी बारी से) बैंक के मैनेजर और खजांची (मैनेजर मास्टर जी का भतीजा था) – दोनों के पास हुआ। बाद में एक ब्राह्मण तैयार करके दे जाता था।

तहसीलदार मुसलमान था, पर सबसे हिल-मिलकर चलता और उदार धार्मिक था। दूसरे ही दिन संन्यासी को साथ लेकर वह मन्दिर दिखाया, जो जंगल के बीच भग्न दशा में पड़ा था। स्थान भयानक, परन्तु साधना की दृष्टि से अनुकूल था। दिन में भले ही कभी कोई आदमी आ जाय, परन्तु संध्या से पूर्व ही उसे हिंस्र पशुओं के डर से भाग जाना पड़ता था। मन्दिर वर्षों से अपूजित अवस्था में पड़ा है। मुसलमानों ने तोड़ डाला था, बाद में वहाँ किसी ने एक लिंग की स्थापना कर दी थी। कोठरियाँ सब टूटी हुई पड़ी थीं, एक थी जिसकी न छत थी न दरवाजा, पर ऊँची दीवार थी और अन्दर से नर्मदा-दर्शन हुआ करता था। उसके सामने ही दो हजार हाथ से भी अधिक का चौड़ा-साफ मैदान था, उसके बाद नर्मदा – स्वच्छ-सलिला पवित्र नर्मदा। संन्यासी ने उस कोठरी को पसन्द किया और साफ करवाने को कहा, धूनी के लिए लकड़ी रखवाने को भी कह दिया। जब तक साफ-सूफ न हुआ, गाँव में ही ठहरे। गाँववालों को मालूम हुआ कि दीवान साहब ने पत्र देकर किसी संन्यासी को भेजा है; बस, बहुत-से उसके पास पहुँचे और अर्ज की –"तीन साल से सूखे के कारण अकाल की स्थिति है, लोग मुश्किल से जी पाते हैं, इधर राजकीय हुक्म आया है – लगान वसूलो। पर हम गरीब किसान हैं, बनिए से कर्ज लेकर किसी तरह जी रहे हैं। लगान हम कहाँ से दें? हमारे गाय-बैल – सब तहसीलदार ने जब्त कर लिया है, नीलाम करनेवाले हैं। वर्षा ऋतु आसन्न है, हम खेती कैसे करेंगे? आप दीवान साहब से कहकर नीलाम बन्द कराइए और इस साल भी हमारा लगान माफ करवा दीजिए। फसल होने पर हम सारे राज-कर चुका देंगे।

दीवान साहब से संन्यासी का परिचय तो केवल दो-तीन घण्टों के वार्तालाप तक ही सीमित था। उनके साथ प्रगाढ़ परिचय होता, तो दूसरी बात थी, तो क्या किया जाय! दीवान साहब को पत्र देना भी व्यर्थ था, परन्तु गाँववाले भला कहाँ माननेवाले थे! "उन्होंने जब स्वयं ही पत्र देकर इधर भेजा है, तो क्या बिना परिचय के कोई ऐसा करता है? आप सन्त हैं, यदि आप इस संकट में सहायता न करें, तो कौन करेगा!"

संन्यासी स्वयं संकट में पड़ा – क्या किया जाय? तहसीलदार से पूछने पर पता चला कि हकीकत वैसी ही थी। हुक्म है कि लगान जरूर वसूल करो, जो भी मिले – बैल, गाड़ी आदि सब जप्त करके, नीलाम करके भी वसूलो, क्योंकि पिछले साल माफी दी गई थी, अब इस साल भी कैसे छोड़ा जाएगा! वसूली के बिना राजकार्य भी कैसे चलेगा? – "पर सच है कि इस साल भी वर्षा न होने से फसल पकी नहीं है।" – "हाँ जी, बात तो सच है और यह भी सच है कि बेचारे जीते हैं, तो बनिए की मेहरबानी से। सब कर्ज में डूबे हुए हैं, पर मैं तो नौकर हूँ, मुझे तो हुक्म का तामील करना ही पड़ेगा।"

– "अच्छा जब तक मैं भोपाल जाकर दीवान साहब से मिल आऊँ, तब तक आप नीलाम रोक सकते हैं क्या?"

जरा विचारकर – "जी, मैं पाँच-छह दिन रोक सकता हूँ, क्योंकि इस गाँव में खरीदनेवाले कोई नहीं हैं, सबकी आर्थिक स्थिति खराब है, दूर के गाँव में खबर भेजनी पड़ेगी।"

– "ठीक है, तो मैं कल ही जाना चाहता हूँ, आप किसी गाड़ी का इन्तजाम कर दीजिए और मेरे आने के बाद ही उस मन्दिर में ठहरने की व्यवस्था कीजिएगा।"

सुबह होने पर संन्यासी भोपाल की ओर चला। वहाँ के लिए साथी भी मिला – मास्टर जी का भतीजा, जो वहाँ बैंक में मैनेजर था। एलाइज बैंक – एक जर्मन बैंक था। यह बैंक बहुत-सी स्टेटों में राज्य-कर जमा रखने का काम कर रहा था – हरेक तहसील में जो वसूली होती थी, वह बैंक में जमा हो जाती थी। अत: बैंक ने हर तहसील में एक शाखा खोल रखी थी। पहले विश्वयुद्ध के समय इस पर अँग्रेज सरकार की जप्ती आई, जब करोड़ों रुपए रोक दिए गए, बाद में इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया ने इसे सँभाला और जमा रकम का आधा अर्थात् ५० प्रतिशत सबको दिया। बाकी रहा खुदा के घर। कोई कहते हैं उन लोगों को ७५ प्रतिशत दिया गया था, जिन्होंने इम्पीरियल बैंक में अपना खाता चालू रखा था यानी रुपया निकाला नहीं, उन्हें ७५ प्रतिशत पर ब्याज मिलता रहा।

दफ्तर से लौटने के बाद मास्टरजी संन्यासी को देखकर विस्मित हुए। "क्यों स्वामीजी, जगह पसन्द नहीं आई क्या?"

"जगह तो जैसा चाहता था वैसी ही, बड़ी अच्छी है, अत: आप दोनों को धन्यवाद, पर मैं आया हूँ अन्य कारण से।"

फिर हकीकत बताकर कहा – "इसके लिए तो कुछ उपाय करना पड़ेगा, तहसीलदार ने भी कहा है – परिस्थिति ऐसी ही है और बैल वगैरह नीलाम कर देने से उन लोगों की स्थिति अत्यन्त दुखदायी हो जाएगी। आप इस बारे में कुछ कर सकते हैं क्या?"

वे बोले – "स्वामीजी यह तो दीवानजी कर सकते हैं, आप उनसे मिलिए। यह मेरा काम नहीं है, यदि मैं कहूँ भी तो शायद कामयाबी न मिले, इससे यह ठीक रहेगा कि आप स्वयं ही बात करें।"

संन्यासी जाकर दीवानजी से मिला और सब कुछ कह सुनाया, पर दीवानजी ने तो मुँह लम्बा करके कह दिया कि बेगम साहबा ने हुक्म दिया है, उस पर उनका कुछ भी नहीं चल सकता।

– "पर आप बेगम साहबा के समक्ष यह निवेदन रखिए, शायद यथार्थ दशा की खबर पाकर वे हुक्म रद्द भी कर दें।"

– "नहीं जी, यह सम्भव नहीं है। पिछले साल माफी दी गई थी, उसके पहले साल आधी कर-वसूली हो पाई थी, अब तीसरे साल छोड़ा नहीं जा सकता।"

– "स्टेट तो कर्ज भी कर ले, पर वे गरीब किसान लोग तो कर्ज में डूबे हुए हैं, बनिए की मेहरबानी पर ही जी रहे हैं, यदि उनकी काम की चीजें – बैल आदि नीलाम हो जायँ, तो फिर उनकी कैसी भयंकर अवस्था होगी, यह तो विचारिए! दीवान साहब! मैं समझता हूँ कि यदि यह बात बेगम साहबा को मालूम हो जाय, तो वे इस बार भी जरूर माफी का हुक्म दे देंगी। आप ..."

– "नहीं स्वामीजी, मुझसे तो यह काम नहीं बनेगा।"

संन्यासी ने देखा – आदमी धार्मिक, नित्य गीतापाठी तथा सज्जन होने के बावजूद नैतिक साहस से रहित हैं, इसलिए और अधिक चर्चा न करके संन्यासी वापस मास्टरजी के घर गया। मास्टरजी सब सुनकर चुप बैठे रहे। संन्यासी ने कहा – "मास्टरजी, अगर आप कोई उपाय न करें तो मैं एक पत्र लिखता हूँ, उसे आप पहुँचा दीजिए। ऐसा भरोसा हो रहा है कि हाथ में मिलने से ही काम हो जाएगा, क्योंकि उधर पाँच-छह दिन बाद नीलाम करेंगे। उससे पहले ही हुक्म हो जाय, तो रुक जाय, यही इच्छा है। यदि अनुकूल आदेश नहीं भी हुआ, तो मेरे मन में इतना सन्तोष तो रहेगा कि जो कुछ चेष्टा हो सकती थी, सो की गई, बाकी हरि करे सो होय!"

मास्टरजी –"इससे तो यह प्रश्न जरूर उठेगा कि यह संन्यासी वहाँ पहुँचा कैसे और उन्हें मालूम भी हो जाएगा कि ...।" – "आप लोगों ने ही वहाँ भेजा था। तपानुष्ठान में मदद देने के लिए। इससे यह बेहतर होगा कि आप युक्तिपूर्वक मेरा समाचार बेगम साहबा के कान तक पहुँचाइए, राजा तो कान से ही देखा करते हैं, बेगम साहबा भी देख लेंगी। ... आप तो रोज साहबजादों को ट्यूशन पढ़ाने के लिए जाते हैं, उस वक्त युक्तिपूर्वक यह बात अगर रख दें, तो वे ही लोग जाकर कह देंगे। क्यों?"

– "हाँ, यह युक्ति तो अच्छी है, तो आज ही मैं जरा १०-१५ मिनट विलम्ब करके जाऊँगा और विलम्ब होने का कारण पूछने पर यह बात कह दूँगा। आप आए हैं और ऐसी बातें कह रहे थे, आदि।" – मास्टरजी ने कहा।

– "बस बस, यही युक्ति अच्छी है, इसे जरूर आजमाइए।"

– "पर जो सबसे बड़ा साहबजादा है, वह करीब ९-१० साल का है, पर है बहुत होशियार! कोई बात हो, तो इशारे से ही समझ लेता है। स्वभाव का भी अच्छा है।"

उस रोज मास्टरजी राजभवन में पढ़ाने के लिए देरी करके पहुँचे। पहुँचते ही प्रश्न हुआ – "विलम्ब का क्या कारण है?" मास्टरजी ने पूर्वनिर्धारित कथन के अनुसार हकीकत कह सुनाई। बड़े ने (जो बाद में नवाब हुए थे) सुनकर कहा – "अच्छा ऐसी बात है और बेगम साहबा के पास दौड़ते हुए जाकर कह दिया। उन्होंने सुनते ही मास्टरजी को सामने हाजिर होने को तलब किया और सारी बात कह सुनाने को फर्माया। मास्टरजी ने यथावत् सब कुछ कह सुनाया।

– "पर आज तक मुझसे यह बात क्यों नहीं कही गई?"

– "हुक्म, वह संन्यासी आज ही यहाँ आया है।"

बस, दीवान साहब को बुलाने का हुक्म हुआ। वे भी डरते डरते पहुँचे और जो कुछ संन्यासी से सुना था, कह सुनाया।

– "ऐसा है, तो पहले रिपोर्ट क्यों नहीं पेश की गई?" पर दीवान साहब क्या कहें, चुप रहे।

हुक्म हो गया – "नीलाम न किया जाय। ढोर-ढाकर, गृहपालित पशु आदि सब वापस दे दिये जायँ।"

मास्टर जी ने घर आकर संन्यासी को समाचार दिया। खुद भी आनन्द में थे और संन्यासी भी मनोरथ पूर्ण होने से आनन्द से अभिभूत हो गया। इतने में दीवान साहब स्वयं वहाँ आए – "स्वामीजी, आपकी इच्छा पूर्ण हो गई, जीत गए आप।"

संन्यासी ने कहा – "पर दीवान साहब, यह यश तो आपको ही मिलता, यदि जरा साहस करके उनके सम्मुख बात रख देते। ऐसी बात में डरने का क्या है, मैं समझ न सका। खैर, अब तो यह हो चुका और आप लोगों ने जो स्थल बताया है, तपानुष्ठान के लिए वह अनुकूल है, मुझे बहुत पसन्द आया है, यहाँ से जाकर उधर ही रहने को जाऊँगा। बहुत धन्यवाद! – "स्वामीजी जो कुछ लगे, तहसीलदार से कहिएगा, हम बाद में सब पैसा चुका देंगे। ब्राह्मण हर रोज वहाँ दूध व रोटी पहुँचा आएगा और मर्जी हो, तो आप गाँव मे आ जाइएगा। आप कष्ट मत करें।"

अगले दिन भोजनादि करके फिर वापस मर्दानपुर जाना था। मास्टरजी का भतीजा रसोई पका रहा था, थोड़ा-सा आटा दूध से सान दिया और बाकी यथावत् पानी से सान रहा था। – "क्यों भाई, यह दूध से अलग किसके लिए साना है?

– "चाचाजी के वास्ते!"

– "क्यों?

– "मेरे हाथ का नहीं खाते। पानी से बनाने से नहीं खाएँगे।"

– "क्यों, तुम्हारे अपने चाचा है न?"

– "जी हाँ, अपने ही हैं। मैं उनसे छोटे का लड़का हूँ।"

इतने में मास्टरजी भी कालेज से आ पहुँचे। पास आने पर संन्यासी ने उनसे पूछा – ऐसा क्यों? लड़का भी वही था। इधर-उधर की बातें करके उन्होंने यह प्रश्न टालने की चेष्टा की। लड़का (२०-२२ वर्ष का) समझ कर ही वहाँ से जरा खिसक गया, तब मास्टरजी बोले – "उसकी माँ जो है, वह अपने समान घर की नहीं है, इसलिए हम वैसा खाते-पीते नहीं हैं, पर हाँ, दूध-घी से बनी हुई रसोई तो खा लेते हैं।"

संन्यासी ने कहा – "अपने ही भाई का लड़का और जहाँ पितृ-गोत्र से परिचय होता है, वहाँ ऐसा आचरण क्या शोभनीय है? उसकी माँ समान घर की नहीं है, यह बात हमेशा मन में उदय होकर, क्या उसके मन में दुख नहीं पैदा करेगी? क्या शादी-ब्याह में यह बात छिपाने का प्रयास नहीं करिएगा? और यह दूध तो बाजार से लाया है, यहाँ ज्यादातर मुसलमान गूजर लोग ही दूध बेचते हैं। कैसा पानी इसमें मिलाया है, सो तो भगवान ही जाने? इससे शुद्ध तो कुएँ का ही पानी है। पर आप जैसे विद्वान् पुरुष अगर ऐसा करें।"

– "पर स्वामीजी, घर की औरतें नहीं मानेंगी, यदि मैं यह रिवाज तोड़ दूँ, तो घर में अशान्ति पैदा होगी।"

– "औरतें ज्यादातर निरक्षर, अज्ञानी तथा विचारशून्य हुआ करती हैं। वर्तमान भारत का वे भला क्या समझती हैं? उचित-अनुचित का विचार करने की तो उनमें बुद्धि ही नहीं है और वे शास्त्र-मर्यादा भी नहीं जानती। केवल गतानुगतिक रूढ़ियों से वे चलनेवाली होती हैं। आप जैसे विद्वान् भी यदि वे जैसे नचाएँ, वैसे नाचने के लिए तैयार हों, तो और बेचारे मुर्ख-गँवार क्या कर सकते हैं? अफसोस!"

– "लीजिए स्वामीजी! मैं तो आपके साथ बैठकर सब खाऊँगा, अरे, मेरे लिए उस दूध से सने हुए आटे की जरूरत नहीं है, ऐसे ही चलेगा।"

– "पर चाचाजी, आज तो मैंने कर डाला है।"

तो भी भोजन के समय दोनों मिलाकर ही मास्टर जी ने आहार किया। बाद में जब घर की स्त्रियाँ देश से आयी होंगी, तो क्या किया होगा, सो पता नहीं।

संन्यासी जब वापस मर्दानपुर पहुँचा तो बेगम साहबा का हुक्म आ चुका था, गाँववाले बेगम साहबा की जय-जयकार कर रहे थे। सर्वत्र था निर्मल आनन्द! जय भगवान!

अब तहसीलदार ने उस मन्दिर में ठहरने का पूरा प्रबन्ध कर दिया और संन्यासी एक अमावस की संध्या को उधर रहने के लिए चल पड़ा। पहुँचाने को तहसीलदार, रसोइया ब्राह्मण और दो आदमी साथ हो लिए। धूनी के लिए लकड़ी आदि तैयार रखी थी, नर्मदा का पवित्र जल तो सामने था ही। रोज दाल-रोटी वगैरह आहार जब जैसा बने और दोपहर को लोटा भर दूध ब्राह्मण पहुँचा दिया करेगा। और क्या चाहिए?

तहसीलदार बोला – "पर स्वामीजी, एक बात है जो मैंने आपसे कही नहीं, इसलिए कि शायद आप सोचें कि मैं डराकर विघ्न डालना चाहता हूँ, परन्तु अब बोल देना उचित समझकर कह रहा हूँ, नहीं तो यदि कुछ हुआ, तो दीवान साहब नाराज हो सकते हैं। ... यहाँ एक जिन्न है, जो किसी को टिकने नहीं देता, कोई तो एक रात रहकर ही भाग निकलता है, कोई बीमार हो जाता है और ऐसा भी सुना गया है कि डर के मारे कोई कोई मर भी गया है। शेर आदि जंगली जानवरों का उपद्रव तो है ही, ऊपर से इस जिन्न का भी है। अब यदि आपकी मर्जी हो, तो आप रात बिताकर सुबह इधर ही गाँव में चले आना, मैं यहाँ के शिव मन्दिर में इन्तजाम करवा दूँगा। आपको कोई कष्ट नहीं होगा।"

सुनकर संन्यासी ने कहा – "आपने यह बताकर अच्छा ही किया। जिन्न कभी देखने में नहीं आया था, इस अवसर पर देखने को मिलेगा।"

– "पर स्वामीजी! मैं सच कह रहा हूँ, मजाक नहीं कर रहा हूँ, आपके साथ ऐसा करना बेअदबी होगी!"

– "हाँ, हाँ, आपने ठीक ही किया। अब जैसा होगा, देखा जाएगा, आज तो यहाँ रात बिता ही लूँ।"

संन्यासी ठहर गया और बाकी सब गाँव को लौट गए। दरवाजे के सामने ही धूनी जलाकर बैठा, ताकि कोई हिंस्र पशु अन्दर आकर आक्रमण न कर दे! दरवाजा बन्द करने का था ही नहीं, छत भी नहीं थी, पर दीवारें ठीक ठीक ऊँची थीं – चारों ओर १२-१४ फीट ऊँची, इसलिए किसी के आने के लिए वह दरवाजा ही एकमात्र खुला मार्ग था। सामने खुला साफ चौगान और बाद में नर्मदा नदी। परन्तु अमावस की रात थी, इसलिए चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था, सामने अग्नि के सिवाय और कुछ दृश्य नजर नहीं आता था। उस रोज शेर की गर्जना सारे जंगल को गुँजाती हुई विशेष रूप से भय उत्पन्न कर रही थी और कोई आवाज सुनने में नही आती थी। संन्यासी को अच्छा लग रहा था, अग्निदेव उसके मन को

एकाग्र कर रहे थे। जंगल में अग्नि अवश्य ही चाहिए, आत्मरक्षा के लिए और यह ध्यान को भी सहज ही आकर्षित करती है। घण्टों निकल जाने पर भी पता नहीं चलता और बड़ी प्रसन्नता ले आती है।

संन्यासी एकाग्रचित्त होकर बैठा था। इतने में कोई ५०-६० कदम के फासले पर मैदान के बीच सहसा नील-पीताभ रंग की एक ज्योति झलक उठी। अरे! यह क्या? कुछ देर फिर कुछ भी नहीं, अन्धकार और भी घनीभूत प्रतीत होने लगा। फिर वही अग्नि-शिखा जैसी झलक! न निकट, न दूर, एक निश्चित स्थल पर ऐसा होता रहा! ... चौगान तो कठोर पत्थर का है, उसमें कोई कीचड़-मिट्टी तो है नहीं कि जमीन फटने से गैस या दबी हुई विषैली हवा निकले। वैसी गैस निकलने से बाहरी वातावरण से उसका सम्पर्क होते ही ज्वाला प्रकट होती है, जिसका रंग भी ऐसा ही नील-पीताभ होता है! फासफोरसिन् गैस का यह स्वभाव है। और एक है सो भयंकर सर्प – शंखिणी, जिसके मुँह में से ऐसी लोलायित अग्नि-शिखा-सी क्षण भर निकलकर उसे शिकार दिखा देती है।

संन्यासी इस प्रकार रात भर सोचता रहा, अरे हाँ, एक दफे उस जिन्न की बात भी याद आयी थी, तब सोचा कि अगर पास में आएगा, तो उसकी खबर डण्डे से लेगा, पर वह आया ही नहीं। ... उस निश्चित स्थल की निशानी – अन्दाजा मन-ही-मन कर लिया था और सुबह होते ही डण्डा हाथ में लेकर उधर चल पड़ा, भय तो शंखिणी सर्प का ही अधिक था। चारों ओर नजर फेरकर देखा, तो पत्थर में एक मोटा छेद दिखा, जो काफी बड़ा था। छेद के अन्दर धीरे धीरे लकड़ी डालकर देखना चाहा कि सर्प है या कुछ और! सर्प होने से तो फुफकार जरूर मारेगा, तब सावधान रहना होगा, क्योंकि शंखिणी बड़ी विषैली हुआ करती है। पर उसमें से निकला एक बड़ा अजीब जन्तु – बिल्कुल छोटा-सा लोमड़ी जैसा। – "अरे, तू कौन है? तू ही रात में जिन्न बनता है क्या?" उस छेद का दूसरा मुँह कोई १०-१२ हाथ के फासले पर था, इधर लकड़ी डालने पर उधर से निकल पड़ा, उधर डालने से फिर इधर से निकल रहा था। कुछ देर उसके साथ खेलकर संन्यासी प्रात:कृत्य स्नानादि करके स्थान पर चला आया। रात में फिर उसी स्थल पर वह नील-पीताभ ज्योति की झलक। संन्यासी धीरे-से उधर गया, तो देखा वही जानवर था, जो भागकर बिल में छिप गया। यही वह जिन्न था, जो सबको डराता था या कहिए जिससे आदमी डरा करते थे। अज्ञानता के साथ भीति इसका कारण था, वस्तुत: कोई भयंकर पशु या जिन्न नहीं था।

तीसरे दिन तहसीलदार आए। साथ में रसोइया ब्राह्मण को भी लाए थे। कुशल पूछकर बैठे, फिर इधर-उधर की बातें करने लगे, बाद में कहा – "क्यों स्वामीजी, आप कुछ देखते नहीं हैं?" संन्यासी ने प्रश्न का मर्म समझकर कहा – "आप देखिएगा? वह जिन्न यहीं है?" वे बोले – "अजी नहीं, नहीं, हम गृहस्थ हैं, बाल-बच्चेदार हैं। आप मंत्र जानते होंगे, इसलिए डरते नहीं हैं।"

– "नहीं, नहीं, इसमें मन्त्र का काम नहीं है और मैं कह रहा हूँ – कुछ डरने का भी नहीं है। सबको डरानेवाले जिन्न को जरा आप भी देख लीजिए।"

– "नहीं जी नहीं।"

पर संन्यासी तो डण्डा लेकर गया और बिल में घुसेड़ा, तो वह जानवर निकल आया।

– "यही वह जिन्न है, जो सबको डराया करता है!"

– "नहीं स्वामीजी, यह तो कोई जानवर है।"

– "हाँ, इसके मुँह में फॉसफोरस है, जब यह कीट-पतंग शिकार करता है, तो इसके मुँह से ज्वाला निकलती है। लोग अज्ञान के कारण डरकर जिन्न समझते हैं।"

तब तहसीलदार खूब हँसे। पर ब्राह्मण तथा तहसीलदार दोनों को डर के मारे पसीना आ गया था।

कोई कहता है – यह फेऊ है। वहाँ शेर की इतनी आवाज आती थी, पर यह जानवर कभी बोला नहीं था और संन्यासी वहाँ कोई दो महीने ठहरा था। तहसीलदार बोले – "पहले कभी ऐसा जानवर देखा नहीं था। जो भी हो, एक मामूली जीव को जिन्न बना डाला और डर से मरते थे।

संन्यासी रोज सुबह उसके साथ खेला करता और निर्दोष आनन्द लिया करता था।

❖ **(क्रमशः)** ❖

भगवद्-गीता की महिमा

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात' पुस्तक अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में इसके धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है नागपुर की श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम क्रमश: प्रकाशित करेंगे। – सं.)

लन्दन में स्वामी विवेकानन्द की सुप्रसिद्ध जर्मन संस्कृतज्ञ प्रोफेसर मैक्समूलर से भेंट हुई थी। इन दोनों भारत-प्रेमियों का परिचय क्रमश: प्रगाढ़ मैत्री में परिणत हुआ। अन्त में, जब स्वामीजी भारत लौटने के लिए मैक्समूलर से विदा लेने लगे, तो उन्होंने स्वामीजी से अनुरोध किया, "स्वदेश पहुँचने के बाद मेरे लिए कोई ऐसी वस्तु उपहारस्वरूप भिजवाइए जो भारतवासियों का वैशिष्ट्य हो, भारतीय संस्कृति का प्रतीक तथा प्रतिनिधि हो।" भारत लौट आने के पश्चात् मैक्समूलर महाशय द्वारा की गई इस प्रेमपूर्वक अनुरोध को स्मरण रखकर, स्वामीजी ने इतनी आस्थापूर्वक माँगी गयी वस्तु उन्हें तत्काल भिजवा दी थी। क्या भिजवाया स्वामीजी ने मैक्समूलर को? स्वामीजी ने प्रोफेसर को भिजवायी थी – भगवद्‌गीता ग्रन्थ की एक प्रति।

भारतीय संस्कृति से जिनका भलीभाँति परिचय है उन्हें यह अलग से बताने की आवश्यकता न होगी कि स्वामीजी का यह चयन कितना सटीक, कितना सांकेतिक और कितना मार्मिक था।

* * *

स्पष्टत: यहाँ 'भारतीय संस्कृति' से तात्पर्य 'आध्यात्मिक' या 'धार्मिक' जीवन से है। वस्तुत: धार्मिक जीवन के आदर्शों या आचरण के विषय में, आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के विषय में तथा साधना के विषय में, ध्येय के विषय में तथा मार्ग के विषय में ऐसा कोई भी महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक विषय नहीं है, जिस पर प्रामाणिक, निर्णायक, सुबोध और स्फूर्तिदायक विवेचन गीता में न किया गया हो। असामान्य ज्ञानी तथा अलौकिक भक्त श्रीमत् मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'गीता-भाष्य' की भूमिका में अत्यन्त प्रेम तथा आवेग के साथ निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट किये हैं –

एतत् सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम्।
अतो व्याख्यातुमेतन्मे मन उत्सहते भृशम्।।

– "आध्यात्मिक जीवन के सभी अंग-उपांगों का कितना सर्वांगपूर्ण तथा सुन्दर विवेचन भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में किया है! भाष्य लिखकर आध्यात्मिक सत्यों का प्रसार करने हेतु दूसरा कौन-सा ग्रन्थ चुना जा सकता है? अतएव इस अप्रतिम ग्रन्थ की व्याख्या करने को मेरा मन सतत प्रलोभित हो रहा है।"

– २ –

गीता भारतीय संस्कृति का प्रतीक तथा प्रतिनिधि है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि धर्म-जीवन की अन्तिम अवस्था या उपाय सम्बन्धी जो ज्योतिर्मय सत्य गीता में बताये गए हैं, वे मात्र भारतीयों या हिन्दुओं के लिए ही प्रयोज्य हैं। समग्र गीता का सारांशभूत तथा गीतारूपी मन्दिर का कलश माना जाने वाला गीता के अन्तिम – १८वें अध्याय में गीताधर्म के सारतत्त्व को संक्षेप में बताते हुए योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

यत: प्रभृति: भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।।

– "जिन परमात्मा से समस्त जीवों की उत्पत्ति हुई है, उन सबके अन्तरंग में वास करनेवाले परमात्मा की स्वयं के कर्मरूपी पुष्पों से अर्चना करके मनुष्य क्रमश: जीवन के अन्तिम सत्य के साक्षात्कार का पात्र बनता है।"

भगवान ने असन्दिग्ध रूप से कहा है – **सिद्धिं विन्दति मानव:** – 'मानव' को सिद्धि प्राप्त होती है। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि **सिद्धिं विन्दति हिन्दव:** – केवल हिन्दुओं को सिद्धि प्राप्त होती है। और इसका कारण भी स्पष्ट है और उसे भगवान ने इस श्लोक में बता दिया है। किसी भी 'मानव' को सिद्धि मिल सकती है, भगवान के मतानुसार इसका कारण यह है कि स्त्री हो या पुरुष, हिन्दू हो या अहिन्दू, पूर्वीय हो या पश्चिमी, काला हो या पीला या गोरा, ब्राह्मण हो या अब्राह्मण, प्रत्येक व्यक्ति इस एकमेवाद्वितीय प्रभु से ही उत्पन्न हुआ है, उस लीलामय का एक एक रूप है, वह सच्चिदानन्द सागर ही इस नाम-तरंगों के रूप में आलोड़ित हो रहा है। वह आनन्दस्वरूप ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। तो फिर ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि स्वयं के यथार्थ स्वरूप को जानने का – आत्मतत्त्व की प्राप्ति का अधिकार उनमें से किसी को है और किसी को नहीं? भगवान गीता के द्वारा स्पष्ट रूप से घोषणा कर रहे हैं कि चाहे कोई किसी भी जाति का, किसी भी वर्ण का, किसी भी देश का और किसी भी पेशे का हो, इसमें प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है।

गीता में मानव के यथार्थ स्वरूप का ऐसा स्पष्ट बोध कराये जाने के कारण और इसमें सार्वभौमिक सत्यों को प्रकट करने

के कारण स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव केवल भारत या सिर्फ हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रहा। विदेशों में अत्यन्त भिन्न संस्कार-संस्कृतियों में पैदा हुए, भिन्न परिवेशों में पले-बढ़े विधर्मी धर्मप्राण लोगों पर भी गीता का अपरिहार्य, अमोघ प्रभाव पड़ा है और पड़ता दीख रहा है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में 'कांकॉर्ड' नामक एक शहर है। वहाँ के सुप्रसिद्ध, लोकप्रिय मनीषी श्रीमान इमर्सन महोदय ने अपने जीवन के अन्तिम ४८ वर्ष इसी नगर में गुजारे थे और यहीं से अपने उदार, उदात्त, उत्कृष्ट तथा जीवन को गठित करनेवाले विचार सम्पूर्ण अमेरिका में फैलाए थे। १ फरवरी १९०० ई. को अमेरिका के पेसाडेना नगर में अमेरिकी श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – "आप लोगों में से जिन्होंने गीता नहीं पढ़ी है, उन्हें मैं उसे पढ़ने की सलाह दूँगा। यदि आपको ज्ञात होता कि आपके अपने देश (अमेरिका) को गीता ने कितना प्रभावित किया है, तो आज तक आप उसे बिना पढ़े नहीं रहते। इमर्सन के उच्च भाव-स्रोतों का उद्गम यही गीता है। (१८३३ ई. में) एक बार वे थॉमस कार्लायल से मिलने गए। कार्लायल ने उन्हें गीता भेंट की और कांकॉर्ड में जिस उदार दार्शनिक तत्त्व के आन्दोलन की शुरुआत हुई, उसकी नींव इसी छोटी-सी पुस्तक से पड़ी। और अमेरिका में जितने भी उदार भावों के आन्दोलन हैं, वे सभी किसी-न-किसी प्रकार से उस कांकॉर्ड-आन्दोलन के ऋणी हैं।"(७/१६३)। गीता के अनुशीलन के फलस्वरूप ही इन विदेशी विधर्मी विद्वान् इमर्सन महोदय के विचारों और जीवन में रूपहली आभा जुड़ गयी थी।

इसी गीता के जीवन्त सत्यों पर मुग्ध होकर हिन्दुस्तान के प्रथम गवर्नर-जनरल लॉर्ड वारेन हेस्टिंग्ज ने इसका आंग्ल अनुवाद करवाने का निश्चय किया। इस निमित्त उन्होंने अपने अधीनस्थ श्री चार्ल्स विल्किन्स को दो वर्ष का अवकाश देकर काशी के एक पण्डित के यहाँ संस्कृत सीखने भेजा। तदनुसार संस्कृत सीखकर विल्किन्स ने गीता का अँग्रेजी में अनुवाद किया। यही गीता का सबसे पहला अँग्रेजी अनुवाद था। ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशक-मंडल की अनुमति से वारेन हेस्टिंग्ज ने ३० मई १७८५ को इसे इंग्लैंड से प्रकाशित कराया। इसकी प्रस्तावना स्वयं वारेन हेस्टिंग्ज ने लिखी है। इसमें भारत का यह तत्कालीन विदेशी, विधर्मी सर्वोच्च पदाधिकारी कहता है – "जिज्ञासा जगानेवाले जो कुछ सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ आज तक सुशिक्षित जगत् को उपलब्ध हुए हैं, उनमें से गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है। ... जब भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हुए काफी काल बीत चुका होगा और इसकी सम्पदा तथा सत्ता के उद्गम स्मृति-मात्र का विषय होकर रह जायेंगे, तब भी भारतीय दर्शनों के लेखक जीवित रहेंगे।"

— ३ —

गीता से जुड़ी विदेशी मनीषियों के जीवन की घटनाएँ तथा उनके उद्गारों का ऊपर जो उल्लेख किया गया, उसका यह तात्पर्य नहीं कि चूँकि साहबों ने गीता को माना तथा प्रशंसा की है, इसलिए यह ग्रन्थ 'महान्' है; बल्कि उन घटनाओं व उद्गारों को यह दर्शाने के लिए उद्धृत किया गया है कि गीता में वर्णित जीवन्त सत्यों का, विदेशों में भी जहाँ कहीं किसी भी कारणवश प्रवेश हुआ है, सार्वभौमिक होने के कारण वहाँ अनिवार्य रूप से उनका संजीवक-उद्धारक प्रभाव पड़ा है। वस्तुत: इन विदेशी सज्जनों की प्रशंसा में गीता की सच्ची महानता वैसे ही नहीं है, जैसे कि आजीवन राजनीति के दलदल में रमण करनेवाले राजनीतिज्ञों द्वारा उसकी प्रशंसा में भी वस्तुत: गीता की सच्ची महानता नहीं है। अपने स्वयं के प्रिय विचारों को गीता का सार बताकर, उसी को जबरन सिद्ध करने के प्रयास में गीता को आच्छन्न करना भारतीय राजनीति के धुरन्धर तथा लोकप्रिय नेताओं का एक शगल ही बन गया है। इस प्रकार गीता की तारीफों के पुल बाँधने में भी गीता की सच्ची महानता नहीं है; बल्कि ऐसे प्रत्यक्षानुभूति-सम्पन्न अवतारी महापुरुष, जिनके आजन्म-आमरण जीवन का एकमात्र लक्ष्य धर्म ही था, जिनका जन्म हुआ था अतीन्द्रिय धार्मिक सत्यों का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव लेकर, अविद्या-अन्धकार में कुलबुलाते जीवों का उद्धार करने के लिए उन सत्यों का प्रसार करने हेतु, उन्होंने ही जो भी बताया है, वही गीता का यथार्थ मर्म है; और उसमें वर्णित जिन सत्यों के मूर्त साक्षात्कार से तृप्त-कृतार्थ होकर उन्होंने गीता के विषय में जो अलौकिक उद्गार प्रकट किए हैं, उन्हीं में गीता की सच्ची महानता है, उन्हीं में उसकी यथार्थ महिमा है और उन्हीं में उसकी समुचित गरिमा है, क्योंकि ये ही उसके सच्चे प्रशंसक व सच्चे पारखी हैं।

* * *

भगवत्-पूज्यपाद आचार्य श्रीशंकर गीता पर अपने भाष्य की भूमिका में कहते हैं – **तत् इदं गीताशास्त्रं समस्त-वेदार्थ-सार-संग्रह-भूतं दुर्विज्ञेयार्थम्** – "गीता 'शास्त्र' है – मोक्षशास्त्र है। इसमें समस्त वेदों के अर्थ का सार समाविष्ट है और इसीलिए गीता का 'अर्थ' समझना सहज नहीं है।"

भगवती गीता के विषय में आलन्दी के ब्रह्मकुमार (सन्त ज्ञानेश्वर) अपने अनुपम, निर्दोष, मधुर, मनोहर शब्दों में कहते हैं – "महर्षि व्यासदेव ने वेदरूपी क्षीरसमुद्र को अपनी प्रज्ञारूपी मथानी से मथकर यह गीतारूपी अनुपम नवनीत निकाला है। जिन्हें जीवन के नश्वर क्षणभंगुर सुख अब आकृष्ट नहीं कर पाते, जिनका 'शाश्वत' आनन्द के प्रति तीव्र लगाव है, उन्हें 'जो' भी चाहिए 'वह' इस गीता में है। 'जो' चाहिए, उसके

लिए प्रत्यक्ष साधना करते हुए उन्हें जो 'अनुभव' प्राप्त हुए, उन्ही का इस गीता में वर्णन है। और उनमें से भी जिनका यह अनुभव पक्का-प्रतिष्ठित हो चुका है, वे महाभाग 'जिस' में परमानन्द पाकर रमण करते हैं, उन्हीं जीवन्त सत्यों को प्रभु ने इस गीता में बताया है.।'' (ज्ञानेश्वरी, १-५१,५३)।

पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द ने गीता का वर्णन करते हुए कहा है – ''ईश्वरावतार भगवान श्रीकृष्ण द्वारा वेद-उपनिषदों पर किया हुआ दिव्य भाष्य ही गीता है।''

– ४ –

श्रीशंकर-ज्ञानेश्वर-विवेकानन्द के समान सत्यद्रष्टा अथवा इमर्सन-कार्लाइल-थोरो-वाल्टह्विटमन आदि के समान विदेश के सुविख्यात विद्वान् अथवा राजनीति आदि लौकिक क्षेत्रों के प्रसिद्ध स्वदेशी नेताओं को छोड़ दें, तो भी भारत एवं इंग्लैड, अमेरिका आदि बाहर के देशों की धार्मिक प्रवृत्ति से युक्त आम जनता के मन व जीवन पर पड़नेवाला गीता का प्रभाव भी कम विस्मय-जनक नहीं है। कुछ उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रभाव विद्वान्, दार्शनिक तथा अध्ययनशील लोगों पर तो खूब पड़ता है, पर वे आम जनता के मन पर अपनी छाप नहीं छोड़ पाते। इसके विपरीत कुछ ग्रन्थ ऐसे भी होते हैं, जो सामान्य जन-मानस पर तो अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं, पर विद्वत्- समाज में आदृत नहीं हो पाते। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी होते हैं, जो वे चिन्तनशील लोगों को अत्यन्त प्रिय लगते हैं पर कर्मप्रिय लोगों को वे निकृष्ट-नीरस लगते हैं। कितने ही ग्रन्थ ज्ञानप्रवण तर्कनिष्ठ व्यक्तियों को पसन्द आते हैं, पर काव्यमय भावनाप्रधान भक्तिप्रवण लोगों को रोचक नहीं लगते।

तो अनेक ग्रन्थ भावुक लोगों को सरस लगते हैं, लेकिन बुद्धिप्रधान लोगों को निरर्थक लगते हैं। पर गीता की बात ही निराली है। विद्वान्-अविद्वान्, साधारण-असाधारण, चिन्तनशील-कर्मप्रिय, ज्ञानप्रवण-भावनाप्रधान – सभी स्तरों के, सभी स्वभावों के जीवन-जिज्ञासू, सत्यान्वेषी व्यक्तियों को गीता अपनी लगती है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व के पारमार्थिक एवं लौकिक साहित्य में गीता की बराबरी कर सके, ऐसा कोई अन्य ग्रन्थ चुन पाना कठिन ही है।

अनेक बार विभिन्न स्तर तथा विभिन्न स्वभाव के व्यक्तियों को मोहित करनेवाले कहीं दो-एक ग्रन्थ मिल भी जाते हैं, पर उनका प्रभाव देश-काल की सीमा द्वारा मर्यादित होता है। किसी विशिष्ट देश या प्रान्त में ही उनका प्रभाव दिखाई पड़ता है। और देश की सीमा तथा भौगोलिक मर्यादाओं को पार करके कुछ ग्रन्थों का प्रभाव बाहर पहुँच जाने पर भी वह किसी विशिष्ट कालखण्ड तक ही सीमित होता है। गीता इस दृष्टिकोण से भी बेजोड़ है। इसका प्रभाव भौगोलिक सीमाओं में बद्ध नहीं है। और ऐसा क्यों है, यह हम देख चुके हैं। काल की सीमा भी गीता के प्रभाव को सीमित नहीं कर सकी। पश्चिमी देशों में उसका प्रवेश होने के बाद से, अब तक इसका प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ है और क्रमश: बढ़ भी रहा है। जैसे भोर के समय नि:शब्द तथा निस्तब्ध भाव से गिरनेवाले ओस-कण असंख्य कलिकाओं को प्रस्फुटित कर डालते हैं, ठीक वैसे ही गीता में वर्णित जीवन-दर्शन ने भी बिना किसी शोर-शराबे के शान्तिपूर्वक पाश्चात्य उद्यान की कितनी ही जीवन-कलिकाओं को खिलने में मदद की है, कर रही है और करती रहेगी।

और अपनी जन्मभूमि में, अपने इस प्रिय भारतवर्ष में तो गीता के प्रभाव ने मानो काल को ही पराजित कर दिया है और इसका अलग से वर्णन करने की जरूरत नहीं है। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में युद्ध शुरू होने के पूर्व निनादित होनेवाले रणवाद्यों की कर्कश प्रलयंकर ध्वनि को भेदकर, उससे दूर, अति दूर, उस अज्ञात दिवस के रण-गगन में ध्वनित हुआ वह दिव्य, अजर, अमर, मधुर कृष्णार्जुन-संवाद भारतीयों के हृदय-गगन में अब भी – आज भी – प्रतिध्वनित हो रहा है – निनादित हो रहा है, गूँज रहा है। किसी छोटे-से ग्राम में बारहों महीने बहनेवाली नदी, उस गाँव के बड़े-छोटे, ज्ञानी-अज्ञानी, स्त्री-पुरुष सभी को जीवन-रस प्रदान करती हुई, उस गाँव के समस्त निवासियों के जीवन में प्रवेश करके जैसे अखण्ड बहती जाती है, वैसे ही पुण्य-तोया, अखण्ड-सलिला, भगवती गीता भारतीयों को सतत जीवन-रस प्रदान करते हुए, उनके जीवन में प्रवेश कर सतत बह रही हैं और ऐसे ही बहती रहेंगी। भगवती, तुम्हें हमारे करोड़ों करोड़ों कृतज्ञ प्रणाम!

* * *

और इतना सब होते हुए भी गीता कितनी सरल, कितनी सुबोध और कितने प्रासाद गुण से युक्त है! भाषा देखिए, भाव देखिए, रचना देखिए, उपमा-दृष्टान्त देखिए, शब्द देखिए, छन्द देखिए, वृत्त देखिए – सभी क्षेत्रों में आकर्षक, आह्लादक रम्य प्रसन्नता। सम्पूर्ण गीता में मानो शरद् ऋतु के निरभ्र आकाश की स्वच्छ पारदर्शक नीलवर्णीय प्रसन्नता सुरभित हो रही है। यह मानो वाणभट्ट की 'कादम्बरी' के उस निर्मल 'अच्छोद' सरोवर का वाङ्मयीन रूप! सचमुच ही विश्व के साहित्य भण्डार में यदि गीता न होती, तो 'अत्यन्त उच्च – सर्वोच्च दर्शन को सरल, सहज, सरस तथा सुबोध पद्धति से बतलाया जा सकता है' –इस कथन को प्रमाणित करने के लिए किस ग्रन्थ की ओर अंगुलि-निर्देश किया जा सकता था?

– ५ –

गीता में बताए गए जीवन्त सत्य जितने हृदयाकर्षक, जीवन-दायी हैं, जिस 'परिस्थिति' में वे बतलाये हैं, वह भी उतनी ही स्फूर्तिदायक, सान्त्वनादायक है। कुरुक्षेत्र के रणांगन

में अपनी तथा शत्रु की सेना युद्ध के लिए उद्यत होनेवाली थी, तभी स्वजनों की आसक्ति से, मोह से अर्जुन का चित्त अन्धकारमय हो गया। अपने तथा जगत् के सच्चे स्वरूप का और उसे प्राप्त करने का 'स्वधर्म' – क्षात्रधर्म – रूप जो मार्ग था, उसका अर्जुन को विस्मरण हो गया। तब अर्जुन के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि इस समय अपना कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है, यहाँ अपने लिए धर्म क्या है और अधर्म क्या है ! जीवन के अन्तिम सत्य की प्राप्ति का 'स्वधर्म' रूप जो मार्ग है और 'मैं-मेरा' के प्रति आसक्ति जो उस मार्ग का एकमेव शत्रु है, उस स्वधर्म और आसक्ति के बीच होनेवाले अभूतपूर्व, तुमुल, प्रचण्ड संघर्ष से अर्जुन पूर्णत: मथित हो उठा, अति व्याकुल हुआ, परम शोकाकुल हुआ। उसकी बुद्धि, उसकी तर्कशक्ति, उसका ज्ञान, उसकी सदसद्-विवेक-बुद्धि, उसका शौर्य, उसकी वीरता – उसका कुछ भी उसे उस घोर, विकराल संघर्ष से मुक्त करने में सहायक सिद्ध नहीं हो सका। कौरवों के साथ युद्ध करने के लिए पूर्णत: सज्जित होकर आया हुआ अर्जुन, सहसा स्वयं के साथ संघर्ष करने के इस अकल्पनीय प्रसंग के सम्मुखीन होकर अत्यधिक घबरा गया, पूर्णत: किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया।

ऐसी 'परिस्थिति' में भगवान श्रीकृष्ण ने उसे जो जीवन-दर्शन देकर मोहरहित, सन्देहरहित, शान्त तथा कृतार्थ किया, उसी का नाम है – 'गीता'।

अर्जुन महान् थे। उनका सब कुछ महान् था। उनका जीवन महान् था, उनका संघर्ष भी महान् था, उनकी तुलना में हम लोग बिल्कुल क्षुद्र हैं। परन्तु इससे भी क्या? कौरवों से संग्राम करते समय जिस संघर्ष ने अर्जुन को एक बार मथकर रख दिया था, वही संघर्ष हमें जीवन से संग्राम करते समय पग पग पर व्याकुल करता रहता है। जो परिस्थिति अर्जुन के जीवन में एक बार ही आयी थी, वह हमारे इस छोटे-से जीवन में बारम्बार आती रहती है। अत: अर्जुन के द्वन्द्व का शमन करनेवाली गीता का शामक तत्त्वज्ञान हमें कदम कदम पर काम आ सकता है। हमें पग पग पर सान्त्वना दे सकता है, स्फूर्ति दे सकता है, धैर्य दे सकता है, बल दे सकता है, आशा दे सकता है। क्षण भर कल्पना करें, मान लें कि अर्जुन के जीवन में यह कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ ही नहीं था। और यह कि अर्जुन तथा श्रीकृष्ण अपने राजमहलों में सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं और श्रीकृष्ण जिज्ञासु अर्जुन के आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, सृष्टितत्त्व, पंचीकरण तत्त्व आदि विषयक प्रश्नों के उत्तर दे रहे हैं। मोह-व्याकुल अर्जुन और स्नेह-व्याकुल श्रीकृष्ण के बीच 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' से आरम्भ हुए उस अजरामर देवदुर्लभ संवाद का स्वाद क्या राजमहल में सुखासीन बैठकर हुए प्रश्नोत्तरों में आ सकता है? इस स्वाद में ही गीता की महिमा है।

* * *

अर्जुन जिस समय रणभूमि की ओर जाने के लिए निकले, उस समय उन्हें वास्तविकता की पूर्ण जानकारी थी कि इस युद्ध में उसे भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनों से लोहा लेना होगा और इसके फलस्वरूप अपने असंख्य प्रिय स्वजनों से चिरकाल के लिए वियोग होगा। "हे कृष्ण! मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य भाग में ले चलो। दुर्बुद्धि दुर्योधन का पक्ष लेकर युंद्ध की आकांक्षा से एकत्र हुए योद्धाओं को जरा मैं एक बार देख लूँ" – ऐसा कहकर शेखी बघारनेवाले अर्जुन युद्ध आरम्भ होने के ठीक पूर्व हिम्मत हार बैठे, मोहाविष्ट हो गए – अपने ध्येय से विमुख हुए। अपने मार्ग से च्युत हो गए। असमय ही अर्जुन का यह कितना भयंकर स्खलन हुआ और इसी में गीता का वास्तविक माधुर्य है! अर्जुन स्खलनशील थे, बिल्कुल हमारे आपके समान स्खलनशील थे। हमारे आपके समान ही वे भी झिझके और इसीलिए हमें अर्जुन के बारे में और उसी प्रकार गीता के बारे में अपनत्व लगता है। मोह, स्खलन, गल्तियाँ, कर्तव्य-च्युति यदि हो गयीं, तो भी यदि हम जीवन-सत्यों के प्रति निष्ठावान रहते हैं, जीवन-आदर्शों के साथ छल नहीं करते – एक अन्दर एक बाहर नहीं करते, भगवान श्रीकृष्ण के समान जीवन-पारंगत मार्गदर्शक के निर्देशों की उपेक्षा-अवहेलना नहीं करते, तो फिर हम चाहे कितने भी दुर्बल हों, तो भी कोई बात नहीं, हमारे लिए अब भी आशा है। यह अमोल संजीवक सन्देश गीता हमें बिना माँगे ही अर्जुन के माध्यम से दे देती है। क्षण भर के लिए कल्पना करें कि गीता में बताई गई इसी ब्रह्मविद्या की चर्चा किसी आश्रम में योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा जन्मज्ञानी शुकदेव के बीच हो रही है! हमारे-आपके समान दुर्बलों के प्रतिनिधि अर्जुन और उनकी दुर्बलता के प्रति क्षण मात्र के

नर-सेवा नारायण-सेवा

महेशचन्द्र त्रिपाठी

नर-सेवा, नारायण-सेवा
सेवा से फलता है मेवा।
प्रतिदिन सेवा करो किसी की
तदनन्तर ही करो कलेवा ।।

सेवा रोगी-दीन-दलित की
सेवा वृद्ध और पीड़ित की।
सेवा पतित और शोषित की
सेवा दुख से त्रस्त व्यथित की ।।

सेवा एक महान् कर्म है
सेवा सबसे बड़ा धर्म है।
नारायण से महा-मिलन का
सेवा में ही छिपा मर्म है ।।

सेवादर्श सिखाने जग में
आये स्वामि विवेकानन्द।
सेवा करके प्राप्त करोगे
सुविमल शान्ति, परम आनन्द ।।

लिए भी दुर्भाव न लाकर उन्हें अपने हृदय से लगाकर उनका मोह दूर करके, उन्हें उचित मार्ग ले जाने के लिए अपना सारा ज्ञान, यहाँ तक कि अपनी सम्पूर्ण योग-सामर्थ्य भी नि:शंक रूप से दाँव पर लगानेवाले श्रीकृष्ण – इन दोनों के संवादों का स्वाद क्या उस कृष्ण-शुक तत्त्व-चर्चा में आ सकता है? इस स्वाद में ही गीता का आकर्षण है।

* * *

और इन सबके ऊपर हैं, इसको बतानेवाले!

सभी वेदों द्वारा जो जानने योग्य है, समस्त साधनों का जो साध्य है, ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग का जो एकमेव लक्ष्य है, अखिल जीवों की अन्तरात्मा – वे सच्चिदानन्द प्रभु ही स्व-माया से मानव बनकर, जीवन की भूलभुलैया में पड़कर भ्रमित हुए अर्जुन को स्वयं की प्राप्ति का उपाय बता रहे हैं! यह समस्त जगत् जिनका लीलाविलास है, वे लीलामय ही मनुष्य रूप धरकर इस जगत् के सच्चे स्वरूप के बारे में अर्जुन को बताकर उनकी आसक्ति, उनका मोह दूर कर रहे हैं! जीवन का जो अन्तिम सत्य है, वही जीवन के अन्धकार में से अर्जुन को मार्ग दिखा रहा है! इस ज्ञान की सत्यता के बारे में, अमोघता के बारे में, फिर भला क्या संशय हो सकता है? यदि कल्पना करें कि ठीक युद्ध के पूर्व घबड़ाए हुए अर्जुन सीधे किसी सुविख्यात दार्शनिक के पास चले जाते और वे 'तत्त्वज्ञानी' विभिन्न प्रमाण देकर जीवन के अन्तिम सत्य और उसकी प्राप्ति के उपाय अर्जुन को मनवा रहे हैं – सब कुछ सप्रमाण सिद्ध करके दिखा रहे हैं। तो क्या कभी उस तर्कधुरन्धर पाण्डित्य को भगवान के इस 'अनुभूत ज्ञान' में रुचि आ सकती है? इसी रुचि में ही गीता की महत्ता है!

– ६ –

पर इतने से ही गीता की महिमा समाप्त नहीं होती!

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को चिरंतन जीवन-मूल्यों का, सनातन सत्य का ज्ञान दिया। उससे शान्त होकर अर्जुन कहते हैं –

यदनुग्रहाय परमं गुह्यम् अध्यात्म-संज्ञितम् ।
यत् त्वयोक्तं वचः तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।
भवाप्ययौ ही भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यं अपि चाव्ययम् ।।
एवं एतत् यथात्थ त्वं आत्मानं परमेश्वरम् ।
द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम् ऐश्वरं पुरुषोत्तम ।।

– "हे कमललोचन! तुमने मुझ पर अशेष दया करके मुझे यह अत्यन्त गम्भीर जीवनदायी ज्ञान दिया। इससे मेरा मोह नष्ट हो गया, अब मुझे ज्ञान हो गया है कि यह विश्व-ब्रह्माण्ड एकमेव-अद्वितीय चिन्मय रूप आपका लीलाविलास है। परन्तु, हे प्रभो, मैं केवल ज्ञान से ही क्यों सन्तुष्ट होऊँ? क्या मुझे इस सत्य का मूर्त साक्षात्कार, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं मिल सकता?"

और फिर एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई! केवल इच्छा मात्र से भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा को ब्रह्म-लीला के चिद्विलास का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। अघटित घटित हो गया। 'मैं मारनेवाला हूँ, ये मेरे सगे मृत्यु को प्राप्त होंगे' – ऐसा सोचकर 'मैं-मैं' 'मेरा-मेरा' करनेवाले अर्जुन उसी 'मैं-मेरा' के जगत् में सद्य:प्राप्त अपनी दिव्य अनुभूति को व्यक्त करते हुए कहने लगे –

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।
नमः पुरस्तात् अथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्तवं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।

– "हे भगवन, तुम ही जाननेवाले और तुम्हीं जानने योग्य हो। तुम्हीं ज्ञान और तुम्हीं ज्ञेय हो। इस विश्व में स्थित समस्त वस्तु तथा व्यक्ति के रूप में तुम्हीं शोभित हो रहे हो। आगे पीछे, अगल-बगल, ऊपर-नीचे तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। तुम्हीं सब कुछ हो। हे सर्वस्वरूप, तुम्हें प्रणाम, तुम्हें प्रणाम। 'मैं और मेरा' नहीं, प्रभो, 'तुम और तुम्हारा' ही।"

जिस क्षण अर्जुन का 'मैं-मेरा' का – बोध लुप्त हुआ और उसे 'तू और तेरा' का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ उसी क्षण मानव-जाति को दिलासा मिली कि गीता द्वारा प्रगट होनेवाला उपनिषदों का यह चिरन्तन तत्त्वज्ञान केवल तत्त्वज्ञान नहीं, बल्कि तत्त्व-'दर्शन' है। मानव-जाति को आशा मिली कि यदि कोई निष्ठा तथा उत्कण्ठा के साथ इस उपदेश के पालन द्वारा अपना चित्त शुद्ध करता है, तो वह 'दिव्यचक्षु' पाकर अन्दर-बाहर – सर्वत्र चिन्मय आनन्द सिन्धु लहराता देखेगा – इसी जीवन में उसे उस अन्तिम, परम सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव होगा, वह कृतार्थ हो जायेगा। इस दयनीय 'मैं-मेरा' बोध के शाप से तुच्छ बना हुआ जन-जीवन व्यतीत करनेवाले अभागे मानव को गीता के इस विश्वरूप-दर्शन ने कितनी विलक्षण आशा बँधायी है?

गीता का हमें सन्देश है कि हमें केवल 'जानने', 'मानने', 'मतों' या 'सिद्धान्तों' पर ही जीवन नहीं जीना है। बल्कि हमें इसी जीवन में सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना होगा। और वह हमको – हममें से किसी को भी – मिल सकता है। मानव-मात्र उस दिव्य अनुभव का अधिकारी बन सकता है। निष्ठायुक्त इच्छामात्र होनी चाहिए और इस तरह का प्रत्यक्ष अनुभव होने-मिलने से ही हमारा जीवन शुद्ध होगा, हमारा हृदय वास्तव में शान्त हो सकेगा।

❖ (क्रमशः) ❖

वैज्ञानिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिकता

डॉ. जी. एन. नातू (पूना)

"क्या कोई विज्ञानवादी होने के साथ ही आध्यात्मिक भी हो सकता है?" आज के इस ज्वलन्त प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है, "हाँ!" यह उत्तर, आज की मानवता के समक्ष खड़ी चुनौतियों के सन्दर्भ में न केवल सम्भाव्य, अपितु वांछनीय भी है। इस प्रश्न का सही आशय समझने के लिए हमें 'विज्ञानवादी' एवं 'आध्यात्मिक' – इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान देना होगा।

सर्वप्रथम हम प्रसिद्ध वैज्ञानिक केन विल्बर द्वारा दी गई 'विज्ञान' शब्द की परिभाषा देखेंगे, "विज्ञान क्या है? – यह अस्पष्ट प्रश्न करने के पहले हम पूछेंगे – 'वैज्ञानिक-प्रणाली क्या है?' और 'वैज्ञानिक-क्षेत्र क्या है?' **वैज्ञानिक-प्रणाली** ज्ञानार्जन की वह प्रणाली है, जिसकी मान्यताएँ या तो सर्वमान्य अनुभूतियों के द्वारा स्वीकृत होती हैं अथवा जिनका अन्य वैज्ञानिकों के द्वारा दुहराकर सत्यापन किया जा सकता है। और **वैज्ञानिक-क्षेत्र** से तात्पर्य ऐसी घटनाओं या परिस्थितियों से है, जिनकी जाँच हम वैज्ञानिक-प्रणाली से कर सकते हैं। अत: यदि कोई किसी ज्ञान का दावा करता है, जिसका किसी विधि से खुले परीक्षण द्वारा सत्यापन किया जा सकता है, तो ऐसा ज्ञान उचित रूप से वैज्ञानिक कहा जा सकता है।"

इस परिभाषा में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग केवल भौतिक, इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। यदि ऐसा होता, तो गणित को भी हम विज्ञान नहीं कह पाते। कई लोगों का कहना है कि गणित, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, आदि विषय भौतिक नहीं हैं, किन्तु विल्बर कहते हैं कि गणित के प्रमेय वैज्ञानिक हैं, तथापि उसके सुलझने की प्रक्रिया मानसिक स्तर पर होती है, शारीरिक स्तर पर नहीं। जैसे तर्क-विधानों की जो शृंखला हम लगाते हैं, उसका अनुभव एक आन्तरिक अनुभव है। मानसिक संगीत का वह एक अनुभव होता है। ऐसे अनुभवों का परीक्षण वही लोग कर सकते हैं, जो गणितीय वैचारिक पद्धति में निपुण हैं। इसे ही 'खुला परीक्षण' तथा 'दुहराई जाने में सक्षम' कहा जाता है।

इस परिभाषा के आधार पर हम दावे के साथ वैज्ञानिक ज्ञान और अवैज्ञानिक ज्ञान – दोनों के दावों के भेद को समझ सकते हैं। सच्चा वैज्ञानिक दृष्टिकोण, कभी ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान का खण्डन नहीं करता, जिसमें परीक्षा के बाद स्वीकृति का दावा हो।

वैज्ञानिक पद्धति की उपरोक्त परिभाषा में और एक महत्त्वपूर्ण शब्द है 'भेदी दृष्टि'। यहाँ 'भेदी दृष्टि' का अर्थ है, गहरी नजर के द्वारा कोहरे से भी देखने का प्रयास करनेवाली दृष्टि। इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति में अन्तिम सत्य को जानने के लिए उसके पास ज्वलन्त इच्छा तथा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिए। यह पूर्वाग्रह तथा शंकाग्रस्त होकर केवल उत्सुकता दिखाना या प्रश्न पूछना मात्र नहीं है।

अब दूसरा शब्द लेंगे – **आध्यात्मिकता**। दर्शन, धर्म, तत्त्व-मीमांसा, दैवी रहस्य आदि शब्द भी इसके समानार्थी मान लिए जाते हैं, परन्तु इस व्यक्त जगत् के पीछे निहित प्रकृति के अव्यक्त स्वरूप को जानने हेतु किसी संवेदनशील मानवी मन की खोज को हम आध्यात्मिकता कह सकते हैं। और इस दिशा में जो प्रयास किया जाता है, उसे '**धर्म**' कहते हैं।

विज्ञान का विचार हमने 'वैज्ञानिक-पद्धति' और 'वैज्ञानिक-क्षेत्र' के आधार पर किया है, अत: 'आध्यात्मिकता' का विचार भी 'आध्यात्मिक-पद्धति' व 'आध्यात्मिक-क्षेत्र' के आधार पर होना उचित है। वैज्ञानिक-पद्धति की परिभाषा ही हमें आध्यात्मिक-पद्धति की परिभाषा दे देती है। वैज्ञानिक जगत् की परिकल्पनाएँ उन घटनाओं से जुड़ी होती हैं, जो व्यक्त जगत् से सम्बन्धित है। हम जानते हैं कि व्यक्ति का अस्तित्व केवल भौतिक जगत् के स्तर पर नहीं होता। वैज्ञानिक अस्तित्व के स्तरों (Levels of Existence) की सीढ़ी संक्षेप में इस प्रकार देते हैं –

जड़-जगत् ⇛ जीवन ⇛ मन ⇛ प्राण ⇛ आत्मा

Matter ⇛ Life ⇛ Mind ⇛ Soul ⇛ Spirit

इस सीढ़ी में हर उच्च स्तर में निम्न स्तरों का अन्तर्भाव होता है। अत: आत्मा के स्तर का अभ्यास करनेवाली आध्यात्मिक पद्धति में स्वाभाविक रूप से ही उसके नीचे के चारों स्तरों का अन्तर्भाव है। यह सीढ़ी वैज्ञानिक पद्धति की मर्यादाओं का भी संकेत करती है। जड़-जगत् में तो यह प्रयोज्य होती ही है, साथ ही कुछ हद तक यह जीवन के स्तर पर भी प्रयोज्य है, पर वैज्ञानिक पद्धति मन, प्राण और आत्मा के स्तरों पर प्रयोज्य नहीं हो पाती। विज्ञान-जगत् में एक प्रमुख शब्द है – 'वस्तुनिष्ठता'। किसी भी वस्तु या घटना को हम देख सकते हैं, दिखा सकते हैं तथा उसके बारें में अनुमान कर सकते हैं, जिसे 'वस्तुनिष्ठता' कहते हैं। आध्यात्मिक पद्धति के क्षेत्र में यह वस्तुनिष्ठता अस्पष्ट-सी होकर पीछे हटती है तथा अनुभूति आगे उभरती है। जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा है –

"धर्म का सही अर्थ शब्दों, तत्त्वों या ग्रन्थों में नहीं, अपितु अनुभूति में मिलता है। वह सीखने की बात नहीं है, बनने की चीज है। वस्तुत: धर्म पूर्ण रूप से इन्द्रियातीत होता है। विश्व में स्थित प्रत्येक जीव के पास यह आन्तरिक सामर्थ्य है कि वह इन्द्रियातीत बन सके।"

अत: आध्यात्मिक-पद्धति व्यक्ति के बाह्य तथा आन्तरिक जीवन को एक साथ नियंत्रित कर सकती है। शायद इसीलिए हर काल में जन्मे सन्त-महात्मा सफल तथा समुचित भौतिक जीवन को प्रोत्साहित करते रहे हैं। महाराष्ट्र के सन्त समर्थ रामदास कहते हैं, "पहले अपने पारिवारिक जीवन को सँवारो।" इसके बिना आध्यात्मिक जीवन भी पूर्ण रूप से फलदायी होने की सम्भावना नहीं है।

आध्यात्मिक-क्षेत्र में भौतिक तथा अभौतिक – अस्तित्व के सभी स्तर समाहित हैं। इस युग के एक महान् विचारक सी. ई. एम. जोड कहते हैं, "हर सजीव प्राणी में बुनियादी तौर पर द्वैत विद्यमान है। वह भौतिक पदार्थ को क्रिया के लिए प्रेरित कर उसमें अभौतिक तत्त्व के रूप में साक्षीभाव से रहता है।"

यहाँ यह सूचित किया गया है कि अभौतिक तत्त्व भौतिक स्तर के अतीत है। इस विषय में यह बात बड़ी रोचक है कि जाने-माने भौतिक-विज्ञानी भी इस बारे में मिला-जुला दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। महान् वैज्ञानिक डेविड बोम कहते हैं, "इस सृष्टि में सजीव और निर्जीव के बीच जो सीमारेखा है, वैज्ञानिक प्रयोग उसे स्पष्ट रूप से बताने में असमर्थ रहे हैं। इसलिए यह मानना पड़ता है कि ब्रह्माण्ड कोई ऐसा यंत्र नहीं है, जिसके किसी हिस्से को अलग करके आसानी से उसकी रचना का रहस्य समझ लिया जाय। विश्व का सजीव और निर्जीव – ऐसे दो स्थूल भागों में विभाजन अनुचित होगा। इस ब्रह्माण्ड को एक ऐसा अखण्ड सम्पूर्ण समझना उचित होगा, जिसमें सजीव तथा निर्जीव सर्वदा प्रस्फुटित तथा संकुचित हो रहे हैं।

"इसी को आदर्शवाद, आत्म-तत्त्व या चैतन्य भी कह सकते हैं। आपात् दृष्टि से दिखनेवाला जड़ और चेतन रूप विभाजन आभास मात्र है। आधार सर्वदा एक ही है।"

डेविड बोम के इस स्पष्टीकरण पर कोई और टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर वैज्ञानिक और आध्यात्मिक एक दूसरे से बेझिझक हाथ मिलाते मिल जाते हैं। विज्ञान लगभग हर बात में अपना तार्किक दृष्टिकोण रखने का दावा करता है। केवल दावा ही नहीं, बल्कि उसे अपनी तार्किकता पर थोड़ा अहंकार भी है। इधर आध्यात्मिक-शास्त्र के बारे में कहा जाता है कि यह केवल भौतिकता से दूर के क्षेत्र में ही घूमता रहता है। तथापि आइए देखे कि इस विषय में स्वामी विवेकानन्द क्या कहते हैं, "बुद्धि के जिन आविष्कारों की सहायता से बाकी सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं, क्या धर्म को भी उन्हीं के द्वारा स्वयं को सत्य प्रमाणित करना होगा? बाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन शोध-पद्धतियों का उपयोग होता है, क्या उन्हें धर्मविज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है? मेरा तो विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और मैं चाहता हूँ कि यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। ऐसे शोधों के फलस्वरूप यदि कोई धर्म ध्वंस को प्राप्त हो जाय, तो वह सदा से ही निरर्थक तथा कोरे अन्धविश्वास का धर्म था और वह जितनी जल्दी दूर हो जाय, उतना ही अच्छा।"

तदुपरान्त स्वामीजी आश्वस्त करते हैं, "इस अनुसन्धान के फल-स्वरूप धर्म का सारा मैल धुल जाएगा और शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आएँगे। वह न केवल विज्ञान-सम्मत होगा, वरन् उससे भी अधिक सशक्त हो उठेगा, क्योंकि भौतिकि या रसायन-शास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अन्त:साक्ष्य नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है।"[१]

धर्म के क्षेत्र में तर्कसंगत विचार-शैली तथा युक्तिवाद के महत्त्व पर स्वामीजी के समान ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति की यह टिप्पणी यथार्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन करती है।

वर्तमान अवस्था, सिद्धान्तों अथवा उनके उपयोग आदि के प्रति असन्तोष से ही किसी भी वैज्ञानिक प्रगति का प्रादुर्भाव होता है। तब पुराने सिद्धान्त के स्थान पर कोई नया सिद्धान्त आ जाता है और भौतिक जगत् की हमारी समझ को और स्पष्ट बना देता हैं। आध्यात्मिक जगत् में भी यही प्रक्रिया कार्यकर. है। इस विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं,

"धर्म तब प्रारम्भ होता है, जब जीवन की वर्तमान अवस्था से भयानक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जब अपने जीवन के प्रति भी ममता नहीं रह जाती, जब इस जोड़-गाँठ पर अपार घृणा उत्पन्न हो जाती है और जब मिथ्या एवं पाखण्ड के प्रति प्रबल वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है।"[२]

यह बात रोचक है कि इन घटनाओं से निराशा तथा व्यक्ति के जीवन के आनन्द को केवल सन्त-महात्माओं ने ही अनुभव किया हो, एक वैज्ञानिक के संवेदनशील मन ने भी इस बात को महसूस किया था। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन आध्यात्मिक खोजी के दृष्टिकोण का वर्णन करते हुए कहते हैं, "मनुष्य को कभी कभी अपनी ऐहिक इच्छाओं तथा उद्देश्यों की निरर्थकता का और प्रकृति तथा भाव-जगत् के माध्यम से प्रकट हो रही सुन्दरता तथा अद्भुत क्रम-व्यवस्था का बोध होता है। तब व्यक्तिगत अस्तित्व उसे कारागार-सा प्रतीत होता है और वह पूरे ब्रह्माण्ड को एक अखण्ड के रूप में अनुभव करना चाहता है। इस अनुभूति को जगाना तथा इसके प्रति संवेदनशील लोगों में इसे सजीव बनाए रखना ही कलाओं तथा विज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है।"[४]

उपरोक्त दोनों उद्धरण स्पष्ट रूप से, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति रखनेवाले – दोनों प्रकार के मनों में 'असन्तोष' रूपी सामान्य तत्त्व का वर्णन करते हैं। दोनों का ही यह 'असन्तोष' केवल शारीरिक नहीं, अपितु मानसिक स्तर तक जाता है। दोनों के मन किसी ऐसे तत्त्व को पकड़ने का प्रयास करते हैं,

जो 'व्यक्तित्व' से परे हो। आध्यात्मिक साधक इसे ईश्वर, सर्वव्यापी चेतना या परम तत्त्व की खोज कहते हैं और वैज्ञानिक इसे ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च ज्ञान की खोज कहते हैं।

परम सत्य के लिए यह पिपासा कुछ ऐसे संवेदनशील लोगों के मन में इसलिए जागती है, क्योंकि उन्हें सत्य के साथ अपने एकत्व का बोध होता रहता है। पिछली शताब्दी के महानतम वैज्ञानिकों में से एक, ई. श्रॉडिंजर कहते हैं –

"(जगत् को अखण्ड रूप में देखने की) यह अन्तर्दृष्टि अपने आप में कोई नई बात नहीं है। जहाँ तक मुझे पता है, इसका इतिहास २५०० वर्षों या उससे भी अधिक प्राचीन है। ब्रह्माण्ड के परिचालन के विषय में गहनतम अन्तर्दृष्टि का सार भारतीय चिन्तन में महान् प्राचीन उपनिषदों के 'आत्मा = ब्रह्म' सूत्र के रूप में प्रकट हुआ है।"

सुविख्यात वैज्ञानिक के ये गहन विचार स्वामी विवेकानन्द के ही भावों की प्रतिध्वनि प्रतीत होते हैं, ब्रह्माण्ड के पीछे निहित एकत्व का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं, "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य तथा अन्त:प्रकृति को वश में करके इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, भक्ति, मनोनिग्रह या ज्ञान – इनमें से एक, कुछ या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मत्व प्रकट करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं।"[३]

यहाँ स्वामीजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में समस्त बन्धनों से मुक्ति को जीवन का लक्ष्य बताते हैं। आन्तरिक तथा बाह्य प्रकृति के नियमन के रूप में वे जीवन के प्रति एक सन्तुलित दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करते हैं। वैज्ञानिक बाह्य प्रकृति को वशीभूत करने का प्रयास करता है, जबकि आध्यात्मिक साधक मन के रूप में अपने अन्त:प्रकृति को संयमित करने की चेष्टा करता है। और बाकी चीजें तो बस गौण ब्योरे मात्र हैं।

वर्तमान काल में जबकि मनुष्य अपनी सारी शक्तियाँ बाह्य प्रकृति को नियंत्रित करने में लगा रहा है, शायद इसीलिए कहते हैं कि 'प्रयोगशालाएँ आधुनिक विश्व के मन्दिर हैं।' तो फिर यह घोषणा करनी भी उचित होगी कि '**मन्दिर आध्यात्मिक अनुसन्धान की प्रयोगशालाएँ हैं**।'

इस प्रकार वैज्ञानिक और आध्यात्मिक साधक – दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि परिपूरक प्रतीत होते हैं। पिछली सदी के एक अन्य महान् वैज्ञानिक मैक्स प्लैंक कहते हैं, "धर्म तथा विज्ञान के बीच वस्तुत: कभी कोई विरोध नहीं हो सकता। प्रत्येक गम्भीर तथा विचारशील व्यक्ति यह अनुभव करता है कि यदि मानव-आत्मा की सारी शक्तियों को पूर्ण सन्तुलन तथा समन्वय के साथ क्रियाशील होना है, तो उसके भीतर निहित धार्मिक तत्त्व को पहचान कर उसका विकास करना होगा। सभी युगों के महानतम विचारक अपने अन्तर्हृदय से आध्यात्मिक भी रहे हैं, भले ही उन्होंने अपनी धार्मिक भावनाओं का खुला प्रदर्शन न किया हो।"

व्यक्ति, विज्ञानवादी होने के साथ ही आध्यात्मिक भी हो सकता है – महान् वैज्ञानिकों तथा आध्यात्मिक आचार्यों के इन उद्धरणों से हम नि:सन्देह इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

१. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड २, पृ. २७८
२. वही, पृ. ७८ ३. वही, खण्ड १, पृ. १७३

पुस्तक-वीथि

श्रीरामकृष्ण की शिक्षाप्रद कहानियाँ
लेखक – डॉ. हरिवंश अनेजा
प्रकाशक – एच. के. बुक्स, शिव मार्किट, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली - ११० ००७
पृष्ठ ११२, मूल्य - १५० रुपये

अपने उपदेशों को और भी स्पष्ट तथा प्रभावी बनाने के लिए श्रीरामकृष्ण देव अपने वक्तव्य के दौरान अनेक छोटी-बड़ी कथाओं तथा दृष्टान्तों का उपयोग करते थे, जिनके कारण उनके विचार सजीव तथा सहज बोधगम्य हो उठते थे। लेखक ने 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' तथा 'अमृतवाणी' आदि ग्रन्थों से ४१ कथाओं को चुनकर उनका पुनर्लेखन किया है। इन कथाओं को प्रस्तुत करते समय कथा-वस्तु की भाषा-शैली, संवाद-योजना, मुहावरों के प्रयोग आदि पर विशेष बल दिया गया है।

भारतीय महापुरुषों के शिक्षाप्रद विचार
सम्पादक – डॉ. हरिवंश अनेजा
प्रकाशक – अनुरोध प्रकाशन, डी-७५ बी, निहाल विहार, नयी दिल्ली - ११० ०४१
पृष्ठ १८४, मूल्य - २०० रुपये

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "हमारे विचार ही हमारी प्रेरणा के प्रमुख स्रोत हैं, क्योंकि हम जो कुछ सोचते हैं, वही बन जाते हैं।" इस पुस्तक में सभी विषयों पर वर्णानुक्रम से प्रमुख भारतीय सन्तों, मनीषियों, विद्वानों, नेताओं तथा चिन्तकों के विचारों का संकलन तथा संयोजन किया गया है। इस संकलन में विशेष कर नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित तथा जीवन को समुन्नत करनेवाली सूक्तियों को ही स्थान दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त में नामों की अनुक्रमणिका भी दे दी गई है, जिससे यह ग्रन्थ और भी उपादेय बन पड़ा है।

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

६३. प्रश्न – (१) पुनर्जन्म यदि होता है, तो उसका क्या प्रमाण है? और इसका आधार क्या कर्म है? (२) श्री अरविन्द घोष का कथन है कि मनुष्य-योनि प्राप्त होने के बाद आत्मा अन्य योनियों में नहीं जाती, परन्तु प्राचीन सिद्धान्तों के अनुसार यह बात सही नहीं है। इस विषय में आपकी क्या राय है? (३) यह सृष्टि स्वयम्भू है या किसी के द्वारा निर्मित?

उत्तर – (१) पुनर्जन्म होता है। प्रमाण में मुख्य तीन प्रकार माने गए हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष प्रमाण पाना तो असम्भव है और अनुमान-प्रमाण तो उपलब्ध ही है। ऐसी कई घटनाएँ होती हैं, जिनमें बच्चा अपने पूर्व-जन्म की स्मृति के बारे में बतलाता है और जाँच करने पर उसकी बातें सत्य सिद्ध होती हैं। जयपुर में कुछ समय पहले तक एक परा-मनोवैज्ञानिक संस्थान कार्यरत था, डॉ. एच. एन. बनर्जी उसके संचालक थे। उन्होंने पुनर्जन्म से सम्बन्धित बहुत-सी घटनाएँ संकलित की हैं, जिनकी जाँच से उन्हें सही पाया गया है। और ये घटनाएँ केवल अपने देश की ही नहीं, बल्कि अरब, रूस, जर्मनी, इंग्लैंड आदि ऐसे देशों की भी हैं, जहाँ के लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते ही नहीं। और आगम-प्रमाण तो शास्त्रसिद्ध है ही।

हाँ, कर्म ही पुनर्जन्म का आधार है।

(२) श्री अरविन्द घोष के उक्त कथन से मैं सहमत नहीं हूँ। मनुष्य अपने बुरे कर्मों के फलस्वरूप मनुष्येतर योनि में जा सकता है, जहाँ वह अपने कर्मफल का भोग करेगा। उतना फलभोग होने के उपरान्त, वह फिर मनुष्य-योनि में आ जाएगा और पहले का सूत्र पकड़कर आगे बढ़ चलेगा।

उदाहरण के लिए, कल्पना करें कि एक व्यक्ति ने बहुत-से दुष्कर्म किये। साथ ही उसने कुछ अच्छे कर्म भी किये हैं। दोनों के फल उसे मिलते हैं, पर बुरे संस्कार इतने हैं कि अच्छे संस्कारों को दबा देते हैं। मान लें कि उसकी वृत्ति कुत्ते के समान है। तो, वह मरने के उपरान्त कुत्ते की योनि मे जाएगा, वहाँ अपने घोर दुष्कर्मों का फल भोग लेगा और जब मरेगा, तो सीधे मनुष्य-योनि में चला आएगा। उसके जो अच्छे संस्कार थे, अब उनका सूत्र पकड़कर वह पुन: मनुष्य-योनि में कर्म करने लगेगा। पुराणों में आई जड़भरत की कथा इसी को प्रमाणित करती है। राजा भरत मरकर हरिण हुए और हरिण-देह से छूटने के बाद जड़भरत हुए।

(३) सृष्टि स्वयम्भू है। निर्मित कहने से कर्ता की कल्पना होगी, उस पर दोष आ जाएगा। जैसे रस्सी में सर्प का सृजन स्वयम्भू है, वैसे ही ब्रह्म में इस सृष्टि का सृजन स्वयम्भू है।

६४. प्रश्न – (१) क्या राग-द्वेष जीवन के अभिन्न अंग हैं? क्या उनका निराकरण किया जा सकता है? यदि हाँ, तो किस प्रकार? (२) क्या हमारे नाते-रिश्ते चिरस्थायी हैं? क्या उनका सम्बन्ध हमारे भूत या भविष्यकालीन जीवन से है? (३) अच्छे और बुरे, पुण्य और पाप की क्या व्याख्या और पहचान है?

उत्तर – (१) व्यावहारिक सत्य यानी देह-मन के स्तर पर ये राग-द्वेष जीवन के अभिन्न अंग ही कहे जाते हैं। पर चूँकि भारत में पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति ही आदर्श रहा है, अत: सत्यानुभूति की अवस्था में ये राग-द्वेष जीवन से पूरी तौर से निकल जाते हैं। सत्य की अनुभूति की अवस्था से निकलकर व्यवहार की अवस्था में आने पर मनुष्य जब संसार में वर्तन करता है, तब राग-द्वेष इसके जीवन में फिर दिखाई देते हैं, पर ये राग-द्वेष मानो पानी पर खींची गई लकीर-से होते हैं, जली हुई रस्सी-सरीखे होते हैं, पारस का स्पर्श पाकर बननेवाली सोने की तलवार के समान होते हैं। पानी पर खींची लकीर दिखती है और क्षण भर बाद ही मिट भी जाती है। जली हुई रस्सी, आकार में ठीक रस्सी जैसी ही दिखती है, पर बाँधने में समर्थ नहीं होती। तलवार सोने की बन गई, तो काटने का काम नहीं कर पाती। ज्ञानी का राग-द्वेष भी ऐसा ही होता है।

राग-द्वेष का निराकरण ज्ञान के अभ्यास और सतत चिन्तन-मनन के द्वारा किया जा सकता है। यह अभ्यास भी योग के ही अन्तर्गत आता है।

(२) नाते-रिश्ते चिरस्थायी नहीं हैं। भूतकालीन या भविष्य के जीवन से उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। सम्भव है, जो पिछले जीवन में हमारी पत्नी रही हो, वह इस जीवन में हमारी माता बन जाए और अगले जन्म में हमारी कन्या। सम्भव है, पिछले जन्म का हमारा घोर शत्रु इस जन्म में हमारा पुत्र बन जाए और हमें सदैव पीड़ित

करता रहे। सम्भव है, पिछले जन्म में हमने किसी को अपने व्यवहार से शोकाकुल किया हो, तो वह इस जन्म में पुत्र बनकर, अकाल काल-कवलित हो हमें शोक-सागर में निमग्न कर दे। इसी प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं। इसलिए ज्ञान और विचार द्वारा अपने सगे-सम्बन्धियों के प्रति निर्लिप्तता के भाव का पोषण करना चाहिए।

(३) अच्छे-बुरे या पुण्य-पाप की पहचान बताना कठिन है। मोटी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है – "हम दूसरों से जिस बात की अपेक्षा अपने लिए करते हैं, वही हम दूसरों के प्रति करें, तो वह अच्छा या पुण्य की श्रेणी में आता है। हम दूसरों से अपने प्रति जो नहीं चाहते, वही अगर हम दूसरों से करें, तो वह बुरा या पाप की कोटि में आता है।"

६५. प्रश्न – (१) ईश्वर के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण क्या है? (२) कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? (३) जीवन का उद्देश्य क्या है? (४) जीवन में शान्ति किस प्रकार प्राप्त की जाय? उसके लिए क्या कोई साधना है? (५) 'संशयात्मा विनश्यति' – इस उक्ति के अनुसार हम आजकल के पढ़े-लिखे लोगों का इस प्रकार के ऊहापोह के कारण क्या नाश ही होगा?

उत्तर – (१) ईश्वर के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण हम स्वयं हैं। सामान्यत: जड़वादी या आज का मनोवैज्ञानिक मनुष्य को देह-मन की युति (body-mind-complex) मानता है। पर यह प्रकट है कि मन परिवर्तनशील है और सतत प्रवाहमान है। वैसे ही देह भी सर्वदा परिवर्तित हो रही है; यहाँ तक कि चिकित्सा-शास्त्री कहते हैं कि बारह वर्ष में देह के सारे परमाणु ही बदल जाते हैं। (इसी को हमने 'युग' का नाम दिया है। शायद यह बात भारत में ज्ञात थी।)

अब प्रश्न उठा कि यदि देह और मन सतत परिवर्तनशील हैं, तो इसका ज्ञाता कौन है? स्पष्ट ही, दोनों का ज्ञाता ऐसा होगा जो परिवर्तनशील न हो और जो देह-मन से भिन्न हो। जैसे, नदी का प्रवाह। नदी के प्रवाह के साथ यदि हम एकरूप रहें, तो उसका परिवर्तन नहीं जान सकते। उससे भिन्न हटकर ही उसके प्रवाह की परिवर्तनशीलता को जाना जा सकता है। इसी प्रकार, देह और मन के परिवर्तन का अनुभव करनेवाला ऐसा तीसरा तत्त्व है, जो इन दोनों से भिन्न है; वह स्थिर है और उसी के कारण देह-मन की सतत प्रवहमानता सम्बद्ध मालूम होती है।

जैसे, एक फिल्म। फिल्म अलग अलग टुकड़ों से बनी है। जब यही तेजी से भागने लगती है, तो कहेंगे कि अलग अलग टुकड़े जोरों से भाग रहे हैं। पर जब इसी को सामने के स्थिर परदे पर डाला जाता है, तो उन अलग अलग टुकड़ों में एक सम्बद्धता मालूम होती है। यदि परदे को भी गति दे दी जाए, तो फिल्म में किसी भी प्रकार की शृंखला नहीं मालूम पड़ती। ठीक वैसे ही उस तीसरे स्थिर तत्त्व की अवस्थिति के कारण ही भागते हुए देह-मन की क्रियाओं और विचारों में सम्बद्धता मालूम पड़ती है।

इसी तीसरे तत्त्व को 'आत्मा' कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के भीतर यह आत्मा है। और चूँकि यह आत्मा स्वभाव से अपरिवर्तनशील तथा स्थिर है, अत: यह शाश्वत है और चूँकि शाश्वत तत्त्व असीम ही हो सकता है (क्योंकि जहाँ भी सीमा है, वहीं परिवर्तन है), इसलिए आत्मा एक ही है; दो आत्मा नहीं हो सकते, दो असीम नहीं हो सकते। यह आत्मा सर्वव्यापी है और इसी को हम सामान्य बोलचाल की भाषा में 'ईश्वर' कहते हैं। यह ईश्वर ही प्रत्येक जीव में आत्मा के नाम से जाना जाता है। आइन्सटीन ने भी ईश्वर को Imitable Superior Spirit का नाम दिया है।

(२) कर्म-सिद्धान्त अटल है। जैसा कर्म, वैसा फल। कर्म के पीछे जो भावना रहती है, उसी के अनुरूप फल मिला करता है। अतएव, हम कह सकते हैं कि भावनाशून्य कर्म का कोई फल नहीं होता। पूछा जा सकता है कि क्या भावनाशून्य कर्म कोई कर सकता है? उत्तर है – हाँ।

हमारा कार्य जब यांत्रिक रूप से होता है, यानी शरीर से तो हम कर्म करते हैं, पर मन हमारा अन्यत्र रहता है, तो इस प्रकार के किये कर्मों का कोई फल नहीं होता। कर्म के बाह्य रूप के अनुसार फल नहीं मिलता, बल्कि कर्म के पीछे की भावना के अनुसार फल मिलता है।

यहाँ एक प्रश्न और उठ सकता है। कोई व्यक्ति ऊपर से दुष्कर्म-सा दीखनेवाला कर्म करता है, पर यदि वह कहे कि मैं भावनाशून्य होकर करता हूँ या इस कर्म के पीछे मेरी भावना पवित्र है, तब तो व्यभिचारी भी ऐसा कह सकता है। धर्मक्षेत्र के कई नेता दुष्कर्म करते हैं, पर कहते हैं कि मन से अलिप्त हूँ। ऐसी दशा में क्या होगा? इसका उत्तर है कि यह छल-कपट है। ऐसा कहनेवाला मनुष्य दूसरों को तो ठग ही रहा है, साथ ही खुद को ठगता है। यह सारी चर्चा एक सच्चे व्यक्ति के सन्दर्भ में की जा रही है। यानी कर्म का सिद्धान्त यह है कि कर्म के बाह्य रूप पर फल का रूप निर्भर नहीं करता, कर्म के पीछे की भावना के अनुरूप फल मिला करता है।

(३) जीवन का उद्देश्य – देह और मन के ऊपर उठकर आत्मा को जान लेना – आत्मा रूपी परम सत्य का अनुभव।

स्वामी विवेकानन्द ने इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया है – "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा

लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं।''

(४) संसार के स्वरूप का विचार करना, बुरे और पाप से यथाशक्ति बचना और योग का अभ्यास – एकमात्र यही शान्ति का उपाय है। योग की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न ही साधना कहलाता है। ऐसा प्रयत्न मात्र वैचारिक भी हो सकता है, जिसमें किसी प्रकार की बाह्य क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती। इस उपाय को ज्ञानयोग भी कहते हैं। वह अपने यथार्थ स्वरूप का विचार है – **आत्मानं विजानीहि**। विचार की इतनी योग्यता जिनके पास नहीं, वे अपनी रुचि तथा सामर्थ्य के अनुसार राजयोग (अष्टांग योगसाधन), भक्तियोग और कर्मयोग का सहारा ले सकते हैं।

(५) संशय तो ज्ञान की एक आवश्यक सीढ़ी है। संशय में से हमें अनिवार्य रूप से गुजरना होता है। यहाँ **संशयात्मा विनश्यति** का भाव दूसरा है। हममें संशय पैदा हुआ और तर्क द्वारा हमने उसका समाधान भी कर लिया। परन्तु तो भी संशय नहीं जाता। तो ऐसा संशय हमारे मन को एकाग्र नहीं होने देता। 'विनश्यति' का तात्पर्य है आदर्श से विच्युति। संशय जब तक रहे, तब तक ध्येय या साध्य के प्रति दृढ़ता नहीं उत्पन्न होती और साध्य के प्रति अगर दृढ़ता न हो, तो साधना में भी तीव्रता नहीं आ पाती। यही 'विनश्यति' का अर्थ है।

जैसे, कल्पना कीजिए, मैं एक नहर के ऊपर डेढ़ फुट चौड़े सँकरे पुल से जा रहा हूँ और जमीन वहाँ से लगभग पचास फुट नीचे है। मन में यदि संशय है कि मैं चल पाऊँगा या नहीं, तो बहुत सम्भव है कि मैं गिर पड़ूँ। पर एक मिस्त्री जो उस पुल को बना रहा है, उसी सँकरे पर से दौड़ जाता है। क्यों? इसलिए कि वह confident है, आश्वस्त है कि वह दौड़ जाएगा। संशय हमारे confidence को, मन की दृढ़ता को डाँवाँडोल कर देता है।

६६. प्रश्न – (१) एक ओर तो आत्मा को नित्यमुक्त कहा जाता है और दूसरी ओर उसकी मुक्ति के लिए साधना करने की बात भी कही जाती है। क्या यह विरोधाभास नहीं है? (२) यदि आत्मा सर्वव्यापी और वही एकमात्र सत्ता हो, तो बन्धन की सत्ता फिर कहाँ रही? और यदि बन्धन की भी सत्ता मान लें, तो इस सत्ता का नाश कैसे हो सकता है?

उत्तर – आपके ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, अतः इनका उत्तर अलग अलग न देकर एक साथ दे रहा हूँ। यह सही है कि आत्मा को नित्यमुक्त कहा जाता है और साथ ही यह भी सही है कि उसकी मुक्ति के लिए साधना की बात भी कही गई है। इसका कारण है आत्मा की नित्यमुक्तता का अज्ञान। जैसे, सिर पर टोपी है, पर हम उस टोपी को घर में खूँटी पर, तकिये के नीचे, सन्दूक के अन्दर – सर्वत्र खोजते फिरते हैं। यह सारा खोजना किसलिए? इसलिए कि टोपी के होने का अज्ञान अर्थात् 'टोपी है' – इसे न जानना हमें सता रहा है। किसी ने बता दिया कि टोपी तो तुम्हारे सिर पर है, तो हम हाथ से छूकर या दर्पण में देखकर इस अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं। और ऐसा भी होता है कि टोपी के सिर पर होने की शाब्दिक जानकारी मिलते ही हमें सिर पर टोपी का भार महसूस होने लगता है। यह भार तो पहले भी था, पर अज्ञान ने उसके अस्तित्व के इस भार को मानो दबा दिया था। अज्ञान के दूर होते ही उसके अस्तित्व का यह भार फिर मानो अपने-आप प्रकट हो जाता है। टोपी के अस्तित्व का भार सिर पर सर्वदा विद्यमान है – अज्ञान की दशा में भी है, उस समय मालूम नहीं कैसे वह दब जाता है। पहले से विद्यमान इस अस्तित्व के भार का अनुभव करना ही ज्ञान है।

ठीक इसी प्रकार आत्मा, है तो नित्यमुक्त, पर मालूम नहीं कैसे उसकी इस नित्यमुक्तता का अज्ञान हो जाता है। इसी अज्ञान को हटाने का उपक्रम ही साधना कहलाता है। इस अज्ञान की सत्ता है भी, और नहीं भी है। है, इसलिए आत्मा की नित्यमुक्तता जाने कैसे मानो दब जाती है। नहीं है, तभी तो वह अज्ञान दूर भी हो जाता है। जैसे, 'टोपी है' यह ज्ञान 'टोपी नहीं है' इस अज्ञान को दूर कर देता है, वैसे ही 'आत्मा नित्यमुक्त है' यह ज्ञान 'आत्मा बन्धन में है' इस अज्ञान को दूर कर देता है। इस ज्ञान को पाने लिए अर्थात् बन्धन को नष्ट करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है।

यदि पूछें कि यह साधना क्या है, तो उसका उत्तर ऐसा है। जैसे टोपी खोजनेवाले को किसी ने बता दिया कि टोपी तुम्हारे ही सिर पर है। फिर उसने हाथ से छूकर देखा, या दर्पण में देखा, या टोपी के पहले से ही विद्यमान भार का अनुभव करके देखा। इसी प्रकार शास्त्र-ग्रन्थ या अनुभूति-सम्पन्न महापुरुष बता देते हैं कि आत्मा तो नित्यमुक्त है। पर इतने से प्रतीति नहीं होती। उसे या तो छूकर, या दर्पण में, या उसके अस्तित्व के भार का अनुभव करके प्रत्यक्ष करना होता है। यही साधना है। छूकर अज्ञान को दूर करने का प्रयास करना मानो कर्मयोग का रास्ता है, दर्पण में देखकर अज्ञान को हटाना भक्तियोग का और अस्तित्व के भार का अनुभव करके उसको जानना ज्ञानयोग का मार्ग है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द का सेवा-दर्शन

जी. एन. राय चौधरी

स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उनकी शिक्षाओं का केवल हमारे देश के लिए ही नहीं वरन् सारे विश्व के लिए अत्यधिक महत्त्व है। उनकी शिक्षाओं के आलोक में हम अपने व्यक्तिगत जीवन और राष्ट्रीय जीवन का सही दिशा में निर्माण कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने ३९ वर्षों के जीवन-काल में जो कुछ किया और कहा वह युगों युगों तक मनुष्य जाति को प्रेरणा देता रहेगा। अपने देह-त्याग के कुछ समय पहले स्वामीजी ने स्वगत में कहा था, "यदि एक और विवेकानन्द होता, तो वही इस विवेकानन्द के कार्यों को समझ सकता।" और यह बात सत्य भी है, क्योंकि मानव-जाति के लिए उनके अतुलनीय योगदान का अभी तक उचित मूल्यांकन नही हो पाया है।

जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें हम स्वामीजी से प्रेरणा न ले सकें। स्वामीजी का कहना था कि हमारे देश के दो राष्ट्रीय आदर्श हैं – त्याग और सेवा। इन दो आदर्शों के अनुसरण से ही हमारे देश की सर्वांगिण उन्नति हो सकती है।

एक परिव्राजक संन्यासी के रूप में स्वामीजी अपने देश के गरीबों, दलितों और पीड़ितों की दयनीय दशा देखकर कई बार फूट-फूटकर रोया करते थे। १८९७ ई. में उन्होंने अपने देशवासियों का आह्वान करते हुए कहा था, "अगले पचास वर्षों के लिए अपने मन से बाकी सभी देवी-देवताओं को विदा कर दो। हमारा देश ही हमारा एकमात्र देवता है। सबसे पहले उस विराट् देवता की पूजा करनी होगी – सबसे पहले हमें अपने स्वदेशवासियों की पूजा करनी होगी।"

हमारे देश अथवा अन्य देशों में आम तौर पर समाज-सेवा के नाम पर जो कार्य होते हैं, उनमें स्वार्थ की बू रहती है। ये कार्य प्राय: किसी लाभ या स्वार्थपूर्ति या यश के लिए किए जाते हैं। इस तरह की समाज सेवा में अहंकार रहता है। सेवा करनेवाला सेव्य को अपने से नीचा समझता है और सोचता है कि सेवा करके वह दूसरों पर अहसान कर रहा है। इस तरह की सेवा सच्ची समाज-सेवा नहीं हैं। सच्ची समाज-सेवा या मानव-सेवा करने के लिए हमें स्वामी विवेकानन्द के सेवायोग या सेवा-दर्शन से प्रेरणा लेनी होगी। अपने गुरु श्रीरामकृष्ण देव से प्रेरणा पाकर उन्होंने सेवायोग का प्रवर्तन किया था और समाज-सेवा के लिए हमें एक नयी दिशा दी थी।

यह प्रेरणा स्वामीजी को अपने गुरुदेव से कैसे प्राप्त हुई इसकी चर्चा करना आवश्यक है। १८८४ ई. में किसी एक दिन श्रीरामकृष्ण देव (अपनी महासमाधि के लगभग दो वर्ष पहले) दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर के अपने कमरे में बैठे हुए अपने शिष्यों तथा भक्तों को वैष्णव सम्प्रदाय की विशेषताओं के बारे में बता रहे थे। उन्होंने कहा, "वैष्णव सम्प्रदाय की तीन विशेषतायें हैं – भगवान के नाम में रुचि, वैष्णव जनों की सेवा और जीवों पर दया।" ऐसा कह कर वे समाधिस्थ हो गए। फिर अर्द्धचेतन अवस्था में लौटने पर उन्होंने कहा, "जीवों पर दया! जीवों पर दया! रे मूर्ख, पृथ्वी पर रेंगनेवाले क्षुद्र कीट, तू जीवों पर दया करने वाला कौन होता है! जीवों पर दया नहीं – सेवा – शिवभाव से जीवसेवा!" इन शब्दों से स्वामीजी को एक नया प्रकाश मिला और 'शिवभाव से जीवसेवा' उनके जीवन का मूलमंत्र बन गया। प्रत्येक जीव में शिव अर्थात् ईश्वर का निवास है, इसलिए जीव की सेवा ही ईश्वर की पूजा है। इस बात को सामने रखते हुए स्वामीजी ने कहा कि हमें नर-नारायण की, दरिद्र-नारायण की सेवा करनी है। उनके सेवायोग का आधार वेदान्त दर्शन है जो जीव और ब्रह्म के एकत्व की बात करता है। स्वामीजी के मतानुसार ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग और भक्तियोग की तरह सेवायोग भी ईश्वरप्राप्ति का एक साधन है।

वस्तुत: **स्वामीजी का दर्शन मानव-सेवा का दर्शन था।** उन्होंने कहा था, "प्रत्येक नर और नारी को, हर व्यक्ति को, नारायण की दृष्टि से देखो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, मात्र सेवा करने का अधिकार तुम्हारा है। इसलिए ईश्वर की सन्तानों की सेवा करो। ... यदि ईश्वर के अनुग्रह से तुम उनकी किसी सन्तान के काम आ सके तो तुम धन्य हो। ... उसे पूजा की दृष्टि से करो। निर्धन और पीड़ित तो हमारी मुक्ति के साधन हैं, ताकि हम रोगी के रूप में, पागल के रूप में, कोढ़ी के रूप में आने वाले नारायण की सेवा कर सके।"

वैसे तो स्वामीजी के लिए जीवमात्र ही नारायण का रूप था, परन्तु उनके लिए विशेष रूप से सेव्य थे – 'भूखे-नंगे नारायण', 'पीड़ित और दलित नारायण'। उन लोगों की सेवा ही ईश्वर की पूजा है। इस पूजा के सामने निर्विकल्प समाधि का ब्रह्म-साक्षात्कार का आनन्द भी स्वामीजी के लिए गौण था। धर्म की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था, "मैं उस धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसू पोंछने में समर्थ नहीं है। मैं उस धर्म का विश्वासी नहीं हूँ, जो अनाथ बालक के करुण रुदन को चुप नहीं करा सकता।"

मानव-सेवा का पाठ पढ़ाते हुए स्वामीजी कहते हैं, "जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनकी सन्तानों की, इस संसार के सारे जीवों की सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा गया है कि जो भगवान के सेवकों की सेवा करते हैं, वे

भगवान के सबसे बड़े सेवक हैं। नि:स्वार्थता ही धर्म की सबसे बड़ी कसौटी है, जिसमें इस नि:स्वार्थता की मात्रा अधिक है, वह अधिक आध्यात्मिकता-सम्पन्न है और शिव के अधिक निकट है।''

स्वामीजी की दृष्टि में **सभी उपासना का सार है – 'पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना।'** उनके मतानुसार ''जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है। जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना तो केवल प्रारम्भिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी तरह से जाति, धर्म या सम्प्रदाय का विचार किये, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा या सहायता की है।''

स्वामीजी के सेवा-दर्शन में धर्म, सम्प्रदाय या जाति का कोई तंग दायरा नहीं था। उसमें किसी तरह की कोई संकीर्ण भावना नहीं थी। उनका यह दर्शन सर्व-धर्म-समभाव की मजबूत नींव पर खड़ा था। आज का विश्व एक गहरे संकट का सामना कर रहा है। साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता और उससे उत्पन्न आतंकवाद उसके अस्तित्व को ही चुनौती दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में स्वामीजी का इस दर्शन की प्रासंगिकता स्वत:सिद्ध है। **स्वामीजी का सेवा-दर्शन एक ओर तो हमें समाज की नि:स्वार्थ सेवा के लिए प्रेरणा देता है, वहीं दूसरी ओर धर्मों और सम्प्रदायों के पारस्परिक झगड़ों के बीच शान्ति एवं समन्वय का सुन्दर सन्देश सुनाता है।**

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

१३ फरवरी, १९२०

द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत – वेदान्त की तीन तरह से व्याख्या की जाती है। द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद जगत् को मिथ्या नहीं कहते, वरन् सत्य ही कहते हैं अर्थात् प्रकृति और जीव कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रूप में रहते हैं, कभी भी पूर्णरूपेण लुप्त नहीं होते। इस मत में सायुज्य आदि मुक्ति को स्वीकार किया गया है। इसमें निर्वाण-मुक्ति नहीं है। नहीं है कहने कि अपेक्षा यह कहना अधिक उचित होगा कि इस मत के लोग निर्वाण-मुक्ति नहीं चाहते। ये लोग यह स्वीकार करने पर भी कि संसार दुःखमय है, यह भी मानते हैं कि ईश्वर की कृपा से दुःख दूर होकर यह सुखमय हो सकता है। और जो लोग इस संसार को केवल दुखमय ही मानते हैं, वे दुख के हाथों से छुटकारा पाने के लिए, निर्वाण-प्राप्ति की चेष्टा में, जगत् के सारे सम्बन्धों को तोड़कर एकमात्र अद्वैत-ज्ञान का अवलम्बन करते हैं और देहपात के बाद ब्रह्म के साथ एकीभूत होकर चिरकाल के लिए संसार को त्याग देते हैं। इनके मत में जगत् असत्य है। इन्हीं के बारे में उपनिषद् में कहा है – **न स पुनरावर्तते** – वह पुन: इस जगत् में नहीं आता। हमारे ठाकुर ने भी एक बार अभेदानन्द स्वामी को अद्वैतज्ञान की उपलब्धि के बारे में ऐसा ही उपदेश दिया था।

जिन्होंने गीता (१५/१५) में स्वयं के बारे में कहा है – **वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्-वेदविदेव चाहम्** – मैं ही सारे वेदों से जानने योग्य हूँ और मैं ही वेदान्त का कर्ता तथा वेदों का ज्ञाता हूँ। उन्होंने ही भागवत में उद्धव को जो उपदेश दिया है, उस पर चर्चा करने से हमारा विषय और भी स्पष्ट होगा, इस कारण मैं उसे उद्धृत करता हूँ –

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।।

– मनुष्यों के कल्याण के लिए मैंने ज्ञान, भक्ति तथा कर्म – इन तीन प्रकार के योगों का उपदेश दिया है।

उनके लिए कौन सा योग उपयोगी होगा? वे कहते हैं –

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।

– जिनका मन विषयों से पूर्णतया निवृत्त हो गया है, उन्हें ज्ञानयोग का उपदेश दिया जाता है, परन्तु जिनका चित्त विषयों में लिप्त है, उन्हें कर्मयोग की आवश्यकता है।

तत्पश्चात् वे कहते हैं –

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।

– और जिनकी भगवत्कथा में श्रद्धा है और इस कारण विषयों में बहुत अधिक आसक्ति नहीं है, उनके लिए भक्तियोग सिद्धि प्रदान करनेवाला है।

जिनका मन विषय से पूर्णतया उठ गया है, उन्हीं के लिए ज्ञानयोग है। इसके फलस्वरूप संसार निवृत्ति, अपुनरावृत्ति या निर्वाणलाभ होता है। इस मत में **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** के बिना काम ही नहीं चलने का। परन्तु जिनकी जगत् में थोड़ी-बहुत भी आसक्ति है, वे जगत् को मिथ्या कैसे कहेंगे? ये लोग जगत् को ईश्वर की विभूति समझकर मिथ्या नहीं कहते। केवल इसका अविद्या भाग त्यागकर वे विद्या अंश ग्रहण करते हैं और निर्वाण के लिए प्रयास नहीं करते। यह हुआ सामान्य

नियम; फिर दूसरा विशेष नियम भी है, – वह यह कि कोई कोई ज्ञानी निर्वाण के अधिकारी होकर भी निर्वाण स्वीकार नहीं करते, और अहैतुकी भक्ति का आश्रय लेकर शरीर धारण करते हैं। उन्हीं के विषय में भागवत (१/७/१०) में कहा गया है – **आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्** – 'ऐसे मुनिगण जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गई है और जो सदा आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।' इनमें संसार की वासना नहीं है। ये भगवान के लीला-सहचर हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने व्याख्यानों में कई बार इस जीवन्मुक्त भाव का उल्लेख किया है और अपने बारे में भी मुक्ति को तुच्छ मानकर लोकहित के लिए बारम्बार जन्म ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की है। 'बूढ़ी को छू लेना', 'खम्भे को पकड़कर चक्कर लगाना', 'पारस पत्थर छूकर सोना हो जाना', 'दूध में से मक्खन निकालकर जल में डाल रखना' – आदि के द्वारा श्रीरामकृष्ण ने इसी भाव की उपलब्धि की ओर संकेत किया है। इसी अवस्था को प्राप्त होकर भक्त ने प्रार्थना की थी –

कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु
रक्षःपिशाच मनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव त्वत्प्रसादात्
त्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च।।

– हे केशव! कीट, पशु, पक्षी, सर्प, राक्षस, पिशाच, मनुष्य – चाहे जिस भी योनि में मेरा जन्म हो, तुम्हारी कृपा से तुम्हारे प्रति मेरी सर्वदा अचला और अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अविद्या त्याग सभी को करना पड़ता है। अविद्या का संसार किसी का भी नहीं रह सकता।

अज्ञान, दृष्टिदोष आदि तो सबके स्वभावगत तथा अनुभवसिद्ध हैं और इसी को अविद्या कहते हैं। इसके रहते ज्ञान-भक्ति हो ही नहीं सकती। फिर **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** – जगत् ब्रह्म का ही विकास है, इस बोध का अचानक उदय कैसे होगा? इसके लिए जगत् भाव को त्यागना ही होगा। ज्ञान या भक्ति – किसी का भी त्याग के बिना उदय न होगा। पहले त्याग द्वारा ज्ञान या शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के बाद ही देहधारण या निर्वाणलाभ, जैसी रुचि हो वैसा किया जा सकता है। तो भी निर्वाण की तुलना में प्रभु के सहचर होकर **बहुजन-हिताय** देहधारण श्रेष्ठतर है, यही निःसन्देह ठाकुर और स्वामीजी की शिक्षा है।

इसके अतिरिक्त, इस संसार का कुछ भी न छोड़ना होगा, सब कुछ स्वेच्छानुसार भोग करते हुए सर्वत्र ब्रह्मदर्शन – इससे ब्रह्मज्ञान अनायास ही प्राप्त होता है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाले इतर मत हैं। यह सुनने में मधुर तथा आकर्षक होने पर भी श्रुति, युक्ति और सन्तों की अनुभूति के विरुद्ध होने के कारण आदरणीय तथा ग्राह्य नहीं हो सकता। एक बार मैंने एक व्यक्ति को ठाकुर के समक्ष 'संसार सत्य है' इस विषय में युक्ति का प्रयोग करते देखा था। सब सुनकर ठाकुर बोले – "राम, तुम सीधी भाषा में क्यों नहीं कह देते कि तुम्हारा अभी भी आमड़े की चटनी खाने (असार संसार का भोग करने) की इच्छा है, बेकार इतनी तर्क-युक्ति की क्या जरूरत?" इससे अधिक प्रबल और अकाट्य उत्तर और क्या हो सकता है? असल में भीतर आसक्ति रहने पर संसार त्याग करने में भय लगता है; पर उसे छिपाकर यह सोचना कि संसारासक्ति त्याग किये बिना भी भगवान लाभ हो सकता है, मनुष्य की अन्तर्निहित स्वाभाविक दुर्बलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सुविरूढ़-मूल संसार वृक्ष – **असंग-शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा। ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्** – इस (संसार रूपी पीपल के वृक्ष को) अनासक्ति रूपी भगवान का यह उपदेश किसी भी प्रकार बाधित नहीं किया जा सकता। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो लोग इस प्रकार के सैकड़ों शास्त्रीय उपदेशों को नकारकर अपनी आसक्ति के कारण संसार को सार कहकर ग्रहण करते हैं और वेदों के मूल सिद्धान्त त्याग को निष्प्रयोजन घोषित करते हैं, उनका कार्य अत्यन्त साहसपूर्ण होने पर भी समीचीन नहीं है। भविष्य में यदि सम्भव हुआ तो फिर इस विषय पर चर्चा होगी। आज इतना ही। ❑❑❑

रामायण-कालीन सेतु के चिह्न

रामायण में लिखा है कि राक्षसराज रावण ने जब भगवती श्री सीता का हरण कर उन्हें लंका में ले गया, तब उससे युद्ध करने हेतु अपनी सेना को लंका तक ले जाने के लिए भगवान श्रीराम ने रामेश्वरम में सेतुबन्ध का निर्माण किया। इस पुल के निर्माण का प्रसंग रामायण के लंका-काण्ड में वर्णित है। श्रीराम की सेना में 'नल-नील' जैसे कुशल वानरों ने जामवन्त की देखरेख में अल्प काल के भीतर ही पत्थरों के उक्त पुल का निर्माण कर दिया था। रामायण की कथा में इस इस पुल की विशेष महत्ता है। इसी पुल के द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने लंका पर चढ़ाई की। वानर सेना और राक्षसों के बीच युद्ध हुआ और अन्ततः लंकाधिपति रावण निहत हुआ।

रामायण में वर्णित भारत को श्रीलंका से जोड़नेवाला सेतु कोई कपोल कल्पना नहीं, बल्कि सच्चाई है और इसके प्रमाण भी मिले हैं। अमेरिका की विख्यात नेशनल एरोनाटिक्स एण्ड स्पेस एजेन्सी (नासा) ने, अन्तरिक्ष यान के द्वारा 'डिजिटल इमेज कलेक्शन' नामक तकनीक से फोटोग्राफी करके प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित इस रहस्यमय पुल का पता लगाया है।

भारत और श्रीलंका के बीच पाक जल-डमरू-मध्य के उथले जल के भीतर स्थित यह पुल करीब तीस किलोमीटर लम्बा है। मानचित्रों में इसे पहले से ही 'एडम्स ब्रिज' का नाम दिया गया है। विशेषज्ञों के मतानुसार इस पुल के निर्माण में प्रयुक्त सामग्री व निर्माण विधि से यह जान पड़ता है कि इसे बनाने में मानवीय बुद्धि तथा श्रम का उपयोग हुआ होगा।

नासा पिछले कुछ वर्षों से नवीनतम दूरसंवेदन-तकनीक की मदद से इस सेतु के फोटो लेने की कोशिश कर रहा था। अन्तरिक्ष से भारत और श्रीलंका के बीच गहरे समुद्र में दबे इस पुल की तस्वीरें खींची गई हैं और 'नासा' के वैज्ञानिकों ने अध्ययन किया है। 'नासा' द्वारा खींचे गए चित्रों में पुल को समुद्र की गहराई में दबा हुआ दिखाई देता है। पुल की बनावट और उसके निर्माण का 'एडम' के नेतृत्व में 'नासा' अन्तरिक्ष केन्द्र में जो अध्ययन हुआ, उससे आदिम युग में मानव के अस्तित्व की पुष्टि भी होती है। श्रीराम ने अपनी वानर सेना के साथ युद्ध कर लंका के राजा रावण का वध किया था और अपनी पत्नी सीता को वापस ले आए थे। राम-रावण युद्ध में पुल ही माध्यम बना था। (संकलित)

सोमसार के श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम की रिपार्ट

उत्तरकाशी में विगत १९ अक्तूबर से २१ अक्तूबर २००२ तक सोमसार, श्रीरामकृष्ण सेवा मन्दिर द्वारा स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज का शताब्दी जन्मोत्सव का समापन समारोह, श्री सारदा मठ तथा रामकृष्ण सारदा मिशन, दक्षिणेश्वर की महासचिव प्रव्राजिका अमलप्राणा जी की अध्यक्षता में भव्य कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न हुआ। कोलकाता से सेवा-मन्दिर के सचिव डॉ. गौरदास, उपाध्यक्ष डॉ. सेवल गुप्ता तथा अन्य भक्तों का भी आगमन हुआ था।

१९ अक्टूबर को उत्तरकाशी के १९ विद्यालयों के छात्र-छात्राओं द्वारा श्रीरामकृष्ण देव तथा माँ श्रीसारदा देवी पर चार मिनट की भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। प्रातः के सत्र में १२ वर्ष तक की आयु के छात्र-छात्राओं ने 'माताजी की जीवनी एवं सन्देश' तथा दोपहर के सत्र में कक्षा ९ से १२ तक के छात्रों ने 'श्रीरामकृष्ण देव की जीवनी एवं सन्देश' पर भाषण दिये। इस प्रतियोगिता में ८० छात्रों ने भाग लिया। प्रातः सत्र में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय प्रतियोगी की चयन केवल आधे अंक के अन्तर से रहा। बच्चों एवं सभी समागतों के भोजनापरान्त बड़े छात्र-छात्राओं की प्रतियोगिता में निर्णायक मंडल श्रीमत् स्वामी शरणानन्द जी महाराज एवं दो अन्य सन्त रहे। छात्र-छात्राओं के भाषण बड़े उत्कृष्ट हुए। किसी को पूर्वानुमान ही नहीं था कि बच्चों में इतनी प्रतिभा है। एक छात्रा तो भाषण देते हुए इतनी विह्वल हो उठी कि लगा मानो स्वयं भगिनी निवेदिता ही सम्बोधन कर रही हैं। दोनों सत्र छः घण्टे के रहे एवं ८० छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। बच्चों के अभिभावक एवं विद्यालय के अध्यापक-अध्यापिकाएँ भी उपस्थित रहीं।

स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने १९२९ से १९३१ ई. तक और १९३४ से मार्च १९३६ ई. के दौरान लक्षेश्वर स्थित दण्डी क्षेत्र की कुटिया में निवास करते हुए तपस्या की थी। अब भी इस कुटिया में भक्तों द्वारा प्रतिदिन पूजा होती है। २० अक्टूबर को अपराह्न में लक्षेश्वर स्थित महाराज की साधना-स्थली पर आयोजित प्रथम, द्वितीय, एवं तृतीय दोनों भागों के छः छात्र-छात्राओं को पुरस्कृत किया गया। इसी अवसर पर गंगोरी स्थित एस.ए.एस. एकैडमी के नन्हे-मुन्ने छात्र-छात्राओं द्वारा बहुत ही सुन्दर अभिनय प्रस्तुत किया गया। २१ अक्टूबर को इस साधना-स्थल पर समागत भक्तों ने वैदिक स्तोत्र, गीता पाठ एवं भक्ति गीति का सामूहिक पाठ किया। सेवा-मन्दिर के मानद सचिव डा. गौरदास के धन्यवाद ज्ञापन एवं प्रसाद-ग्रहण से समारोह में उपस्थित सभी भक्त आनन्दित हुए। ❑